संवेदना और सौंदर्य

(187)

राजमल बोरा

संवेदना
और
सौंदर्य

डॉ. राजमल बोरा,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
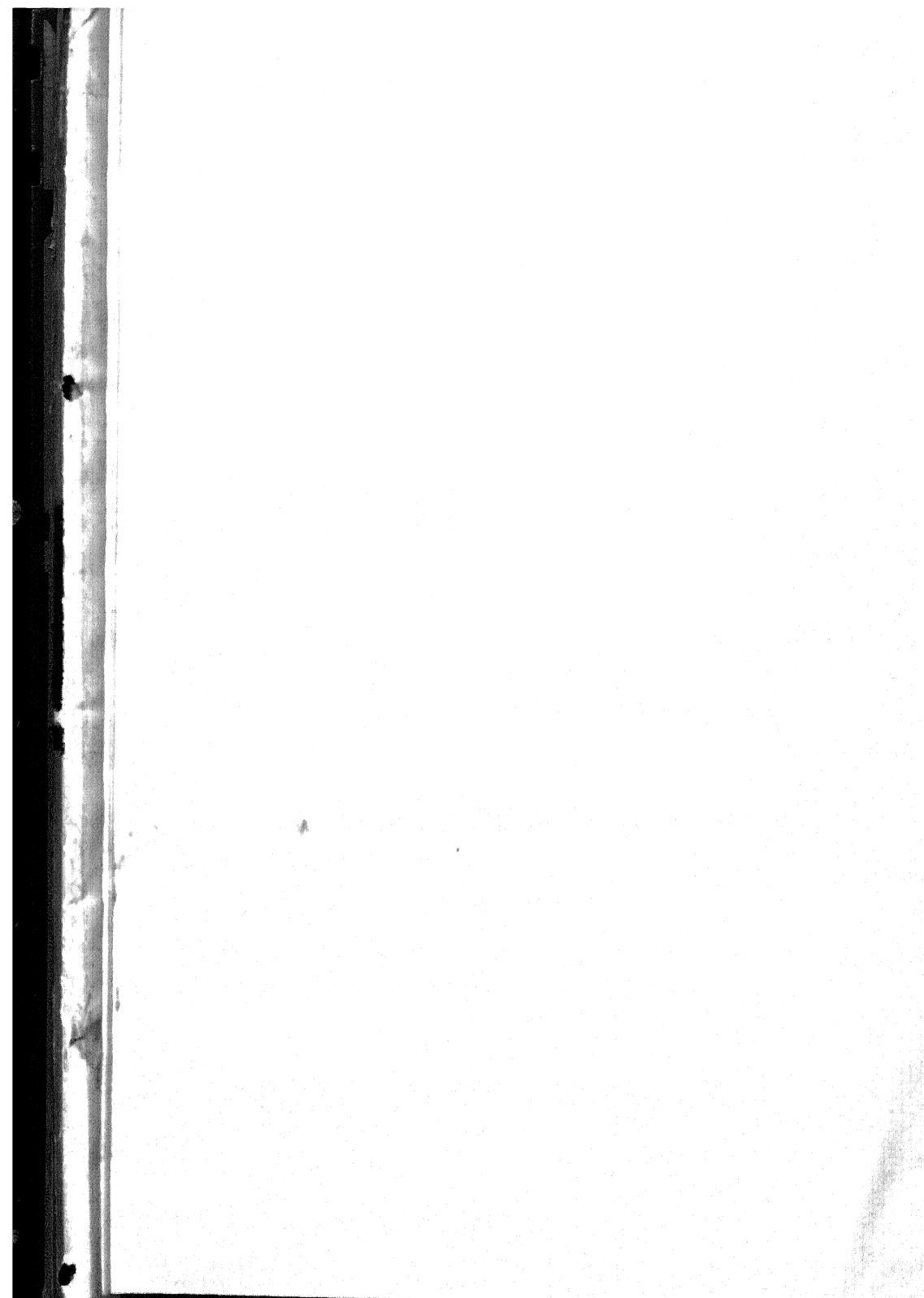
चिरंजीव अनिलकुमार बोरा को

शब्द

संवेदना के अर्थ में शब्द ध्वनि है, जिसका सम्बन्ध हमारे कानों से है। शब्द–संवेदना का सम्बन्ध भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न भी है। शब्द की प्रतीति, भाषा की प्रतीति है। शब्द-मंत्र भी है। ठीक संवेदना के अर्थ में शब्द का विश्लेषण करें, तो हमें वस्तु या पदार्थ की ध्वनि, प्राकृतिक ध्वनियाँ, प्राणियों की ध्वनियाँ तथा मनुष्य की ध्वनियाँ इन सभी पर विचार करना चाहिए। ध्वनि से, जिससे शब्द बनते हैं, अर्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया, जिनके कारण हमारे हृदय में भाव उदित होते हैं और विचार-क्षमता बढ़ती है, शब्द–संवेदना है।

ध्वनि का सम्बन्ध हवा से है। हवा के अभाव में न तो ध्वनि का उच्चारण सम्भव है और न ही श्रवण। जैसे पानी का सागर है, वैसे वातावरण में हवा का सागर है। पानी के सागर को हम देख सकते हैं किन्तु हवा के सागर को हम देख नहीं सकते। हवा को हम अनुभव कर सकते हैं। हवा, पानी से अधिक तरल, सूक्ष्म, व्यापक और गतिमान है। स्थिर पानी में कंकर फेंके तो पानी में तरंगें निर्मित होती हैं। ये तरंगें वृत्ताकार में निर्मित होती हैं। ये

वृत्त फैलते जाते हैं और दूर तक पहुँच कर लुप्त हो जाते हैं। हवा में भी ठीक इसी तरह तरंगें निर्मित होती हैं। हवा में निर्मित तरंगों का सम्बन्ध ध्वनि से है। हवा में निर्मित तरंगें आँखों से दिखलाई नहीं देती। हवा को जब भी किसी कारण, किसी वस्तु या पदार्थ से बाधित किया जायगा तो इससे हवा में तरंगें निर्मित होंगी। तरह-तरह की वस्तुएँ तरह-तरह से थिरकती हैं। इन थिरकनों से हवा में तरंगें पैदा होती हैं। इसीसे विभिन्न प्रकार की आवाजें पैदा होती हैं। कंकर पानी में थिरकता है, तो पानी में तरंगें बनती हैं, इसी तरह कोई पदार्थ या वस्तु हवा में थिरकती है, तो हवा में तरंगें पैदा होती हैं। यह थिरकन (हवा में पैदा होनेवाली) दिखलाई नहीं देती। आवाज का सम्बन्ध इन थिरकनों से है। जब हम बोलते हैं, तो हवा में थिरकन पैदा होती है। यह थिरकन हवा के माध्यम से दूर-दूर तक पहुँचती है। अधिक विस्तार में न जाते हुए, शब्द-संवेदन की दृष्टि मे हम विचार करें तो प्राकृतिक रूप में जो ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुनी जाती हैं, उस पर तथा उससे प्राप्त संवेदना पर विचार करना चाहिए। हम जो भी आवाज सुनते हैं, उसका हम पर प्रभाव पड़ता है और इस माध्यम मे ज्ञान भी होता है।

शब्द-संवेदना को स्थूल रूप में तीन भागों में बाँट सकते हैं। (१) पदार्थ या वस्तु मे उत्पन्न शब्द, (२) किसी प्राणी से उत्पन्न शब्द तथा (३) मनुष्य से व्युत्पन्न शब्द। भाषा का सम्बन्ध यद्यपि सभी प्रकार के शब्द-संवेदनों से है किन्तु भाषा का व्यवहार चूँकि मनुष्य जाति करती आई है, अतः हम मनुष्य द्वारा व्युत्पन्न शब्दों को ही भाषा के अन्तर्गत रख सकते हैं। भाषा के अतिरिक्त, जो शब्द-संवेदन हैं वे भाषा-संवेदन से भिन्न हैं। भाषा-संवेदन में हम लोग उसी समय सक्षम हो सकते हैं, जब हम सामाजिक संस्कार के कारण भाषा सीखते हैं तथा भाव और अर्थ से परिचित होते हैं। भाषा सीखने से पूर्व शब्द-संवेदन के रूप में मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है और जिन शब्दों का व्यवहार मनुष्य करता रहा है या करता है, उन सब का सम्बन्ध, भाषा की उत्पत्ति से है और इस प्रकार के संवेदनों को भाषा-संवेदना न कहकर शब्द-संवेदना ही कहना चाहिए।

पदार्थ या वस्तु से उत्पन्न शब्द

मोटर चलती है, साइकिल चलती है और इसी तरह कई प्रकार के वाहन चलते रहते हैं। सभी चलायमान तथा गतिमान वस्तुएँ या पदार्थ अपनी

गति के कारण हवा को बाधित कर हवा में थिरकते हैं । और इससे आवाज उत्पन्न होती है । कोई चीज ऊपर से नीचे गिर जाए या नीचे से ऊपर फेंकी जाए तो इससे भी हवा बाधित होती है और आवाज निकलती है । हवा जब गतिमान रहती है, तो इसमें पेड़ हिलते हैं, पौधे हिलते हैं, धूल उड़ती है, पानी पर इसका प्रभाव पड़ता है और इन सब कारणों से तरह-तरह की आवाजें उत्पन्न होती हैं । आवाज के लिए गति आवश्यक है । स्थिर वस्तु से आवाज नहीं निकलती । हवा या तो स्वयं बाधित होती है या और वस्तुओं तथा पदार्थों को बाधित करती है । दोनों ही स्थितियों में आवाज उत्पन्न होती है । इन प्राकृतिक आवाजों को हम भाषा में अनुकरण के नाते जिन शब्दों में व्यक्त करते हैं, वस्तुतः वे शब्द उन मूल आवाजों मे भिन्न ही हैं । कुछ उदाहरण :–

हवा के चलने या बहने की आवाज	:	सरसर या सनसन
पानी के बहने की आवाज	:	कलकल, छलछल या झरझर
रथ के चलने की आवाज	:	घर्घर
पेड़ के पत्तों की आवाज	:	मर्मर
डमरू की आवाज	:	डमडम
कंकण की आवाज	:	कणकण
किंकिणी की आवाज	:	किणकिण
विद्युत की आवाज	:	कडकड
बादलों के गरजने की आवाज	:	गड़गड़
घण्टा बजने की आवाज	:	घनघन

इसी तरह के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं । इन उदाहरणों में ध्यान रखने की बात यह है कि इन शब्दों में वस्तु या पदार्थ या प्राकृतिक अवयवों की प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरण है और यह अनुकरण हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है । ये शब्द हैं, जो संवेदनात्मक प्रभाव मनुष्य के मन पर डालते हैं । सच तो यह है कि जिन आवाजों के लिए, ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भाषा में हुआ है, वे शब्द ठीक रूप में अनुकरण प्रस्तुत नहीं करते । यदि प्राकृतिक रूप में हम आवाज सुनें और उस आवाज का जो संवेदनात्मक प्रभाव मन पर होता है, ठीक वही संवेदनात्मक प्रभाव भाषा में प्रयुक्त ध्वन्यात्मक अनुकरणवाले शब्दों को सुनकर नहीं होता । यदि हमने वस्तुतः प्राकृतिक ध्वनि सुनी है और फिर भाषा में प्रयुक्त शब्दों का ध्वन्यात्मक रूप में प्रयोग करते हैं या सुनते हैं, तो उस स्थिति में अनुमान-प्रमाण के आधार पर हमें संवेदना का बोध हो जाता है । हम लोग प्राकृतिक ध्वनियों का ठीक अनुकरण

नहीं कर सकते । इस प्रकार का प्रयास हमारी उच्चारण-क्षमता तथा भाषा में (जिसका हम व्यवहार करते हैं) प्रयुक्त ध्वनियों पर निर्भर है। भिन्न भाषा-भाषी इन्हीं आवाजों को विभिन्न रूपों में उच्चारण करेगा । शब्द-संवेदना की दृष्टि से इन शब्दों का सम्बन्ध भाषा की उत्पत्ति से भी माना जा सकता है । इस प्रकार का सिद्धान्त अनुकरण-सिद्धान्त का एक अंग है ।

पदार्थ या वस्तु से उत्पन्न होनेवाले शब्दों का हम जो प्रयोग करते हैं, उसकी संख्या, भाषा में प्रयुक्त शब्दों की संख्या की तुलना में नगण्य है । जब कि वस्तु-स्थिति यह है कि इस प्रकार की आवाजों की संख्या (जिन्हें शब्द ही कहना चाहिए) अनुमान से अधिक है। जिनकी श्रवणेन्द्रिय अधिक संवेदनशील है, वे इन शब्दों को पहचानते हैं। चलते समय जूते की आवाज, दरवाजा खोलने की या बंद करने की आवाज, बरतनों की आवाज और और, नित्य मनुष्य, जिन जिन पदार्थों या वस्तुओं का उपयोग करता है, उन उन का उपयोग करते समय उन उन की आवाजों को सुनता ही है और सुनने से संवेदना होती ही है। यह संवेदना, शब्द-संवेदना ही है। कुछ लोग तो वस्तुओं की परख करते समय उनकी आवाज निकाल कर देखते हैं और फिर खरीदते हैं । कहते भी हैं, हमने ठोक बजाकर माल लिया है और बेचनेवाला भी कहता है कि ठोक बजाकर लीजिये । 'खनखन' या 'छनछन' (रुपयों की आवाज), झनक झनक या छमक छमक (आभूषणों की आवाज) आदि शब्द भी ऐसे ही हैं। इस प्रकार की आवाजों से वस्तु-साहचर्य का बोध होता है। कुछ आवाजें कर्णप्रिय होती हैं । उनका सुनना अच्छा लगता है। किंतु कुछ आवाजें ऐसी भी हैं, जिन्हें हम सुनना बिल्कुल पसंद नहीं करते । आवाज की मात्रा अधिक हो तो फिर हम उसे शोर कहते हैं । शोर की संवेदना सुखप्रद नहीं होती । इसमें यदि निरर्थक शोर हो, तब तो परेशानी बढ़ती है। शॉपेनहावर का कहना है कि शोरगुल सभी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यंत्रणा है । उसने लिखा है :– 'मैं कई दिनों से अपने इस मत पर स्थिर हूँ कि कोई व्यक्ति बिना विघ्न पहुँचे जितना शोरगुल सह सकता है उसके उतने ही बिपरीत अनुपात में उसकी मानसिक क्षमता रहती है और इसलिये वह उस शक्ति का मापदंड बन सकता है...शोरगुल सभी बुद्धिमान पुरुषों के लिये यंत्रणा है...चीजों को इधर उधर गिराने, पीटने और तोड़ने में जिस अपार शक्ति का परिचय दिया जाता है, वह मुझे संपूर्ण जीवन प्रतिदिन की यंत्रणा सिद्ध हुई है।'[1] यह शॉपेनहावर का अपना अनुभव है। इसमें शोर की संवेदना है। यह संवेदना यंत्रणा पहुँचानेवाली है। कारखानों में, मशीनों के लगातार चलने से आवाजें लगातार आती ही रहती हैं। इनको

सुन-सुन कर सुननेवाले के कान पक जाते हैं । निश्चित ही अधिक शोर के कारण मानसिक क्षमता का ह्रास होता है । वैसे शोर का मनुष्य के मन तथा चरित्र पर पड़नेवाले प्रभावों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है । शब्द--संवेदना के रूप में मनुष्य इनसे प्रभावित होता है ।

प्राणियों की ध्वनियाँ बनाम प्राणियों की भाषा

प्राणी-जगत की अपनी भाषा होती हो किंतु हम उन्हें नहीं समझते । कथाओं में तथा ऐतिहासिक मिथकीय वृत्तांतों में हम इस प्रकार का विवेचन पढ़ते हैं कि प्राणियों की भी अपनी भाषाएँ हैं । हम उनकी भाषा समझें या न समझें, स्वयं प्राणी वर्ग आपस में अपनी-अपनी भाषा समझते होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है । पशुओं की भाषा, पशु जानते होंगे, इसी तरह पक्षियों की भाषा पक्षी जानते होंगे । 'समुझइ खग खगही कै भाषा' । हम लोग अपनी-अपनी भाषा में पशु, पक्षियों की आवाजों का अनुकरण करते हैं । जिनका पशु या पक्षियों से निकट का संबंध है, वे उनकी आवाजों से पशु या पक्षी के भावों को पहचान लेते हों। वैसे हम लोग अपनी भाषा में प्राणियों की आवाज़ के लिए अलग-अलग शब्दों का व्यवहार करते हैं। उदाहरणार्थ : हाथी चिंघाड़ता है, शेर दहाड़ता है, घोड़ा हिनहिनाता है, गधा रेंकता है, साँप फुफकारता है, चिड़ियाँ चहचहाती हैं, कोयल कूकती है, बिल्ली म्याउँ म्याउँ करती है, कुत्ता भोंकता है, कौआ काँव काँव या क़ाँय काँय करता है । पपीहा पीउ पीउ करता है आदि आदि । इस तरह का शब्द-समूह भाषाओं में मिलेगा। इन शब्दों में पशु या पक्षी की आवाजों का अनुकरण हमारी अपनी भाषा के अनुकूल है ।

भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय मैक्समूलरने पशु-पक्षियों की भाषा पर इस दृष्टि से विचार किया है । मैक्समूलर लिखता है :– 'अंग्रेजी वर्णमाला का एक भी अक्षर ऐसा नहीं है जिसका उच्चारण तोता न कर सकता हो। इस पर भी तोतों के समाज ने किसी प्रकार की भाषा को जन्म नहीं दिया । यदि हम इसके कारण को समझने लगें तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि तोते के शरीर के भीतर ध्वनि उत्पन्न करनेवाले अंगों की कोई कमी नहीं है, किंतु मन की शक्ति में कुछ त्रुटि होने के कारण ही तोते भाषा उत्पन्न न कर सके । इन दोनों जीवों की केवल मानसिक शक्तियों की तुलना करके ही, हम ऐसी आशा कर सकते हैं कि हम ये बातें जानें कि भाषा की उत्पत्ति किन-किन मानसिक शक्तियों द्वारा होती है ? सृष्टि के निरीक्षण से हमें यही ज्ञात होता है कि मनुष्य के मन की ही शक्तियाँ ऐसी हैं, जो भाषा को जन्म

दे सकती हैं और किसी जीव का मन और बुद्धि इतनी उन्नत अवस्था में नहीं है कि उसके समाज में बोली का अविर्भाव हो सके।'[२] मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विवेचन किया है। वह पशुओं की संवेदन-क्षमता, उनके सुख-दुख, उनकी स्मृति-शक्ति, पदार्थों की तुलना करने की क्षमता, उनकी पहचान-क्षमता, उनकी स्वतंत्र-इच्छा-शक्ति, लज्जा, अभिमान एवं अन्य राग-द्वेषों को स्वीकार करता है। इस प्रकार से विवेचन करते हुए वह लिखता है :— 'अवश्य ही पशुओं में सहज प्रवृत्ति द्वारा जो यांत्रिक और आचार का ज्ञान प्राप्त होता है, मनुष्य में उतने प्रबल रूप में नहीं देखा जाता, किंतु सहज प्रवृत्ति मनुष्य और पशु दोनों में रहती और ज्ञान तथा विचार की शक्ति भी कम या अधिक मात्रा में दोनों में पाई जाती है। इस स्थिति में मनुष्य और पशु में क्या अंतर है ? अब हमें देखना चाहिए, कौनसी बात ऐसी है जो केवल मात्र मनुष्य कर सकता है और जिसका पशु जगत् में हमें कोई चिह्न नहीं मिलता और जिसका कुछ पता नहीं चलता है। मैं बिना किसी संकोच के इसका यह उत्तर दूँगा कि केवल भाषा का अस्तित्व मनुष्य को पशु से अलग कर देता है। मनुष्य वाणी द्वारा बोलता है किंतु अभी तक किसी पशु के मुँह से एक शब्द भी न निकल पाया। भाषा की दौड़ में हम उसके शिखर पर पहुँच गये हैं और किसी पशु की हिंमत नहीं है कि हमसे बाजी मार ले जाय।'[३] पशुओं की आवाजों का अनुकरण यथार्थ (ठीक उसी तरह) हम नहीं कर सकते।

इस संबंध में एक संगीतज्ञ की कथा प्रसिद्ध है। एक बार एक संगीत के आचार्य अपने शिष्यों के साथ एक वन में से गुजर रहे थे। अचानक उन्हें शेर की आवाज आई। आचार्य तथा शिष्य घबरा गये। इतने में उन्होंने सामने देखा कि एक गड़रिये का लड़का पेड़ के नीचे खड़ा मुस्कुरा रहा है। वस्तुतः शेर की आवाज का अनुकरण उस लड़के ने किया था और वह अनुकरण इतना यथार्थ था कि शेर का अनुमान किया जा सकता था। संगीत के आचार्य उस लड़के के पास पहुँचे। उसने और भी पशु-पक्षियों की आवाजों का यथार्थ अनुकरण प्रस्तुत किया। आचार्य महोदय, उसकी इस अनुकरण-क्षमता से प्रसन्न हुए। उन्होंनें लड़के से कहा कि मुझे अपने पिता के पास ले चलो। पिता से भेट होने पर आचार्य ने कहा कि इस लड़के को मैं ले जाना चाहता हूँ। इसे मैं संगीत की शिक्षा देना चाहता हूँ। पिता ने उसे भेज दिया। कहते है, यही लड़का बाद में तानसेन के नाम से विख्यात हुआ। किंतु इस प्रकार के उदाहरण अत्यल्प हैं और यह कथा किंवदंती के रूप में प्रसिद्ध है। आवाज का यथार्थ अनुकरण होता है तो अनुमान प्रमाण के आधार पर प्रत्यक्ष प्रमाण का बोध हो

जाता है। पशु या पक्षी चेतन होने के कारण तथा उनमें सहजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य से भी अधिक होने के कारण, उनकी आवाजों में संवेदनात्मक क्षमता अधिक होती है। एक ही पशु की आवाजों में राग-द्वेष के अंतर से अलग-अलग आवाजें सुनी जा सकती हैं। पशु-विशेषज्ञ इन आवाजों से परिचित रहते हैं। विशेष रूप से भूख तथा यौनवृत्ति के समय वाणी फूटती ही है। दोनों समय में एक ही पशु या एक ही पक्षी की आवाजें समान नहीं होंगी। कहना यह है कि हम लोग भाषा में पशु तथा पक्षियों की आवाजों का अनुकरण करते समय उनके विविध प्रयोजनों को ध्यान में नहीं रखते किंतु पशु-विशेषज्ञ एक ही पशु की आवाजों को समय समय पर सुनकर उन पशुओं के आशय को समझ जाता है। पशुओं के साथ मनुष्य का वार्तालाप आवाजों के माध्यम से हो तो वह संवेदनात्मक होता है और यह संवेदना शब्द-संवेदना ही है।

मनुष्य से व्युत्पन्न शब्द बनाम भाषा

जहाँ तक सहजात प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, वहाँ तक पशु और मनुष्य में विशेष भेद नहीं है। पशुओं की सहजात प्रवृत्तियाँ अधिक प्रबल होती हैं। मनुष्य में भी यह वृत्ति पाई ही जाती है। जहाँ तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न है, उसमें आरंभ की अवस्था में इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय मनुष्य की सहजात प्रवृत्तियों पर विचार करना ही चाहिए। यह वह प्रवृत्ति है, जिसके कारण मनुष्य सहज रूप में आवाज निकालता है। पशु भी तो यही करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि शिशु का जैसे ही जन्म होता है, वह रोता है। शिशु का रोना, शिशु की सहजात प्रवृत्ति है। जन्म के साथ बच्चा न रोए, तो बच्चा स्वस्थ नहीं माना जाता। कहना यह है कि शब्द तो जन्म के साथ जुड़ा हुआ है। इस रोने के संबंध में तरह-तरह से अनुमान किया जा सकता है। इस पर भी यह बात प्रामाणिक रूप में स्वीकार की जा सकती है कि रोना, शब्द है और इस शब्द का उच्चारण मनुष्य के जन्म के साथ जुड़ा है। हेवलॉक एलिस का विचार है कि लय-संबंधी प्रवृत्ति सहज प्रवृत्ति है। मनुष्य में इस प्रवृत्ति का विकास होता है। उसने लिखा है :– 'हमारी जितनी भी मुख्य शारीरिक क्रियाएँ हैं, वे कुछ अन्तर देकर नियमपूर्वक हुआ करती हैं और इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि हमारी शारीरिक पद्धति में लय अन्तर्निहित है। नतीजा यह है कि जो भी बातें हमारे स्नायुओं और मांसपेशियों की नियमित गति-सम्बन्धी प्रवृत्ति से मिलती-जुलती हैं या जिन बातों से भी हमारे अन्दर की यह लय सम्बन्धी प्रवृत्ति विकसित और

ऊँची होती है, उनका हम पर निश्चित रूप से एक उत्तेजक तथा उत्साहवर्धक प्रभाव पड़ता है। बीखेर और वुण्ड्ट का यह मत मानना सम्भव नहीं है कि पद्धतिगत रूप से किए जानेवाले काम के साथ जो आवाज कुछ अन्तर से लगाई जाती है, उसीसे या मुख्य रूप से उसीसे संगीत की उत्पत्ति हुई है, पर लय चाहे सरल रूप में हो या संगीत के विकसित रूप में हो, मांसपेशियों की क्रिया के लिए एक उत्तेजक असर रखती है, इसमें सन्देह नहीं'।[४] रोने में आवाज की लय है, और यह लय जन्म से मनुष्य में पाई जाती है।

लय का सम्बन्ध संगीत से है। कालिंगवुड यह मानता है कि नृत्य, सब भाषाओं की जननी है। किन्तु मुखरित रूप में नृत्य के साथ—शारीरिक अभिनय के साथ—संगीत का सम्बन्ध है। संगीत और बोली के भेद को बतलाते हुए कालिंगवुड ने स्वीकार किया है कि संगीत बोली से भिन्न है, वह लिखता है :– 'अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी में भावों को व्यक्त करेगी। फ्रेंच बोलने के लिए आप को एक फ्रांसीसी के भावों को ग्रहण करना पड़ेगा। बहुभाषी होना भावों का गिरगिट होना है। और भी अधिक स्पष्टत: सत्य यह है कि जिन भावों को हम संगीत में व्यक्त करते हैं उन्हें बोली में कभी व्यक्त नहीं किया जा सकता, और इसके विपरीत भी सही है। संगीत एक प्रकार की भाषा है, और बोली दूसरी, प्रत्येक वह व्यक्त करती है जिसे यह पूर्ण स्पष्टता और शुद्धता से व्यक्त कर सकती है; किन्तु जो वे (भाषाएँ) व्यक्त करती हैं वे भाव के दो भिन्न प्रकार हैं प्रत्येक स्वयं में उपयुक्त।'[५] संगीत का सम्बन्ध ध्वनियों से है। यह लयात्मक ध्वनि है, जो बोली से भिन्न है। शब्द–संवेदना की दृष्टि से देखें तो संगीत का प्रभाव बहुत व्यापक, सीधा तथा अचूक मानना चाहिए। पशु–पक्षी तक संगीत से प्रभावित होते हैं। यह स्वर–साधना है, जिसमें अनेक प्रकार की लए हैं। इन लयों का शरीर पर गहरा असर पड़ता है। जो बहुत संवेदनशील होते हैं, वे तो संगीत के पीछे पागल हो जाते है। संगीत के साथ शरीर थिरकता है या गतिशील होता है तो इसे नृत्य के रूप में समझा जा सकता है। संगीत और नृत्य इन दोनों में पूर्वस्थिति क्या रही होगी, यह कहना कठिन है। कालिंगवुड मानता है कि नृत्य प्रथम है। किन्तु मुझे लगता है कि दोनों एक साथ भी संभव है। शिशु का जन्म होने पर वह हाथ–पाँव पटकता है और रोता भी है। रोने में संगीत है तथा हाथ–पाँव पटकने और मुख फाड़ने में नृत्य है। नृत्य और संगीत का साथ चोली–दामन का साथ है।

बच्चे के रोने में भूख की सहजात वृत्ति रहती है। (और वृत्तियाँ भी हो सकती हैं) इस वृत्ति के साथ साथ यौन–वृत्ति भी जिसके कारण मनुष्य सहजात्मक रूप से आवाज निकाल सकता है । कुछ विद्वान् तो यह मान बैठे हैं कि यौन–वृत्ति के कारण भाषा की उत्पत्ति हुई है । हेवलॉक एलिस ने लिखा है । ' स्वीडिश भाषा–वैज्ञानिक ' स्पेरबेर का यह मत बहुत कुछ सही मालूम होता है कि यौन–वृत्ति ही वह मुख्य स्रोत थी जिससे साधारण रूप से भाषा की उत्पत्ति हुई। उनका कहना है कि दो परिस्थितियाँ हैं जिनमें सहजात्मक चीत्कार उठेगा और उसे जवाब भी मिलेगा; एक तो वह जब कि भूखा बच्चा चिल्लाता है और माँ उसे खिलाती या पिलाती है और दूसरे वह जब कि यौन रूप से उत्तेजित नर आवाज देता है और मादा उसका जवाब देती है । ऐतिहासिक रूप से दूसरी परिस्थिति पहले आई होगी और इसलिए यौन–वृत्ति ही शायद भाषा का प्रथम स्रोत है । सच तो यह है कि यह उस समय हुई होगी जब कि मेरुदंड सम्बन्धी विकास हुआ होगा[१] ।' इस तरह हम देखते हैं कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध प्रकार के अनुमान हैं। इन अनुमानों में शब्दों के प्रयोग के वे रूप जो लयात्मक (संगीतात्मक) तथा अभिनय का साथ देनेवाले रहे होंगे और जो केवल शब्द (आवाज) मात्र रहे होंगे । यही नहीं इन शब्दों की स्थिति भाषा के जन्म से पूर्व की रही होगी, और जिनका व्यवहार मनुष्य जाति भावाभिव्यक्ति के लिए करती रही होगी, उन सब को शब्द–संवेदना के अन्तर्गत रखा जा सकता है । आवाज कहो या ध्वनि कहो, कुछ भी कहो, इनका श्रवणेन्द्रिय से जो सम्बन्ध है और जिसको सुनकर संवेदना होती है, उन्हें शब्द–संवेदना कह सकते हैं। शब्द–संवेदना भाषा की संवेदना से भिन्न है।

शब्द–संवेदना तथा भाषा–संवेदना

शब्द-संवेदना, भाषा-संवेदना से पूर्व की स्थिति है। इसीलिए भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय शब्द-संवेदना का विवेचन करना पड़ता है। शब्द का अर्थ, ऊपर के विवेचन में जिस दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है, वह अर्थ भाषा में प्रयुक्त शब्द के अर्थ से भिन्न है । व्याकरिणक अर्थ में शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । शब्द, जिस अर्थ में प्रयुक्त है, वह सहजात प्रवृत्ति के रूप में उच्चरित आवाज के अर्थ में है। यहाँ, शब्द प्राकृतिक आवाजों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन आवाजों को सुनकर हमारे मन मे संवेदना जागती है। यह आवाज जितनी अधिक प्राकृतिक होगी, उसका प्रभाव, संवेदनात्मक रूप में उतना ही प्रबल होगा । मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस

प्रवृत्ति के कारण वह एक ओर जैसे सहज शब्द (आवाज) कर सकता है, वैसे ही वह औरों के शब्दों को (आवाजों को) सुनकर उनका अनुकरण भी करता है। भाषा में ऐसे शब्द मानने होंगे जो शब्द-संवेदना से विकसित होकर अनुकरण के बल पर सार्थकता ग्रहण करने लगे हों और यह सार्थकता जिसे सामाजिक बोध कहना चाहिए, आगे चलकर (विकास के कारण) भाषा-संवेदना का रूप धारण करने लगे हों। भाषा का आरम्भ वहीं से मानना चाहिए, जहाँ शब्द-संवेदना समाप्त हो जाती है और हम शब्दों को सार्थक रूप में तथा सामाजिक बोध के रूप में देखने लगते हों। शब्द-संवेदना, भाषा-संवेदना का प्राथमिक रूप है। शब्द-संवेदना के स्तर पर पशु और मनुष्य में विशेष भेद नहीं है किन्तु भाषा-संवेदना पशुओं में नहीं पाई जाती। भाषा-संवेदना मनुष्य का विशेष गुणधर्म है। इस नाते मनुष्य की श्रेष्ठता अपने आप प्रमाणित है।

संदर्भ

१. दर्शन की कहानी, विलड्यूरेंट, अनुवादक : कैलाशनारायण चौधरी, पृ. ३०२–३०३

२. भाषा विज्ञान पर भाषण, मैक्समूलर, अनुवादक : डॉ. हेमचंद्र जोशी, पृ. ३४०

३. ,, पृ. ३४५ तथा ३४६.

४. यौन मनोविज्ञान, हेवलॉक एलिस, अनुवादक : मन्मथनाथ गुप्त, पृ. ६५-६६

५. कला के सिद्धान्त, कालिंगवुड, अनुवादक : डॉ. ब्रजभूषण पालीवाल, पृ. २३६.

६. यौन मनोविज्ञान, हेवलॉक एलिस, अनुवादक : मन्मथनाथ गुप्त, पृ. ६६.

○ ○

स्पर्श

स्पर्शः त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः – अर्थात् स्पर्श संवेदना का संबंध शरीर (त्वचा से है) से है। शरीर बाह्य पदार्थों, वस्तुओं, प्राणियों तथा अन्य शरीरों (उसी की तरह दूसरे शरीरधारियों) के संपर्क में आता रहता है और इस संपर्क के कारण स्पर्शानुभूति होती है। त्वचा इंद्रिय मात्र जिन विशेष गुणों को ग्रहण करें, वह स्पर्श है। स्पर्श, एक प्रकार से संपर्क स्थापित करना है या संपर्क में आना है और यह भी प्रत्यक्ष छूने की क्रिया से। स्पर्श में गति है। स्पर्श में क्रियाशीलता है। स्पर्श में प्रसार है, स्पर्श में फैलाव है, स्पर्श में आकुंचन है तथा स्पर्श में डूबना-आपूरित होना भी है। यह संवेदना ऐसी है, जिसका संबंध चेतना से है। और इसीलिए इसमें जीवन की सजग अनुभूति है।

स्पर्श संवेदना को समझने के लिए, इस संवेदना को हम स्थूल रूप में दो भागों में बाँट सकते हैं। (१) चेतन का जड़ से स्पर्श तथा (२) चेतन का चेतन से स्पर्श। जब भी स्पर्श की क्रिया होगी, उसमें दो या दो से अधिक संपर्क में आएंगे। इन दोनों में यदि दोनों जड़ आपस में छूते हैं, तो इससे स्पर्शानु-भूति नहीं होगी। हम दोनों जड़ पदार्थों या वस्तुओं को छूते हुए देख सकते हैं

(दृश्य-संवेदना) या दोनों छूते समय या टकराते समय जिस ध्वनि को उत्पन्न करेंगे, उसे हम सुन सकते हैं (श्रुति-संवेदना)। इन दोनों ही स्थितियों में स्पर्श की संभावना नहीं है। स्पर्श की संवेदना में टकरानेवाले या संपर्क में आनेवाले दो शरीरों में एक चेतन होना आवश्यक है। स्पर्श की अनुभूति चेतन को ही हो सकती है। इसीलिए दो ही संभावनाएं हैं। चेतन का जड़ से स्पर्श तथा चेतन का चेतन से स्पर्श।

चेतन का जड से स्पर्श

चेतन का स्पर्श जड़ से हो तो इसमें स्पर्श-संवेदना, एक पक्षीय होगी। जड़ पक्ष को संवेदना नहीं होगी। वैसे स्पर्श में दो शरीरों का टकराव है। इसमें एक चेतन हो तो, संवेदनात्मक अनुभूति चेतन को होगी। चेतन स्वयं गतिशील है और दूसरों को गति दे सकता है। वह स्वयं अन्य गतिशील जड़ के सम्पर्क में आ सकता है। जड़ यदि स्थिर है तो स्थिर रहेंगे और गतिमान हैं, तो गतिमान रहेंगे, उस समय तक जब तक कि उन पर बाहरी शक्ति का प्रभाव नहीं होगा। यह न्यूटन का नियम है। इस तुलना में चेतन जड़ से स्वतंत्र हैं। वे अपनी इच्छानुसार स्थिर तथा गतिशील (दोनों ही स्थितियों में) रह सकते हैं। यदि हम जड़ को स्पर्श करें, किसी पदार्थ या वस्तु को स्पर्श करें तो बाह्य रूप में हम आकार (ऊपरी तल) को स्पर्श करते हैं। इस स्पर्श में पदार्थ या वस्तुविशेष के भौतिक तथा रासायनिक गुणों को हम संवेदनात्मक रूप में अनुभव करते हैं। यह अनुभव अनुभूति के स्तर पर भौतिक तथा रासायनिक परिणामों का बोध करानेवाला होगा। उदाहरणार्थ चलते समय पैरों को स्पर्श रूप में जो संवेदना होती है, उसके विविध रूपों को देखा जा सकता है। कमरे के संगमरमरी सचिक्कण फर्श पर चलने में जो संवेदना होगी वह संवेदना हरियाली पर चलने में नहीं होगी। ठीक इसी तरह हम कंटीले रास्ते पर चलें (रास्ता उबड़-खाबड़ हो) तो संवेदना का जो रूप होगा, वह सीमेण्ट के मार्ग पर चलने में नहीं होगा। हर बार चलते समय पैर नंगे होने चाहिए, अन्यथा संवेदना का अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि हम जूते पहन कर चल रहे हों, तो जूते के स्पर्श की संवेदना होगी और फिर चलते समय धरती का भाग जैसे भी होगा, उस भाग की संवेदना जूते के माध्यम से होगी। इन सब संवेदनाओं में अन्तर है। इसी तरह हम कमरे में फर्श पर सोएँ, पलंग पर सोएँ, चटाई बिछा कर सोएं, गद्दे पर सोएँ या हरियाली पर सोएँ—इसी तरह सोते समय हमारे शरीर का स्पर्श विविध रूपों से हो सकता है—कहीं सोएँ, हर समय संवेदनात्मक अनुभव भिन्न प्रकार के होंगे। इन

सब संवेदनाओं में चेतन का स्पर्श जड़ से हो रहा है। इस प्रकार के उदाहरण कई तरह से दिए जा सकते हैं। हम लोग कपड़े पहनते हैं। कपड़ों का स्पर्श शरीर को होता ही है। और यह स्पर्श संवेदना का बोध कराते ही हैं। मलमल का कुरता पहनें या ऊनी कोट पहनें—दोनों ही बार शरीर को स्पर्श की संवेदना अलग-अलग ही होगी। उदाहरणों के विस्तार में न जाते हुए, संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जड़ वस्तु या पदार्थ के स्पर्श से जो संवेदना हमें होती है, उस संवेदना में जड़ वस्तु या पदार्थ के रासायनिक तथा भौतिक गुणों का परिणाम हमारे शरीर पर होता है। इसे ही हम स्पर्श-संवेदना के रूप में अनुभव करते हैं। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें भौतिक परिणाम अधिक है। रासायनिक रूप में स्पर्श की संवेदना का अनुभव भौतिक संवेदना से भिन्न है। हमें कहीं चोट लग जाए, तो जिस चीज से टकराने से चोट लगती है, वह टकराव या यह घटना भौतिक है किन्तु चोट लगने पर खून का बहना तथा खून बहने पर उसका उपचार करते समय आयोडीन लगाना यह सब रासायनिक स्पर्श है। आयोडीन लगाने के उपरान्त हमें जिस प्रकार दर्द होता है, वह दर्द रासायनिक संवेदना का भाग है। इंजेक्शन देते समय सुई चुभाई जाती है, चुभने की यह क्रिया भौतिक है और इससे जो संवेदना होती है, वह चुभने की पीड़ा है किन्तु इंजेक्शन देने के उपरान्त उसी स्थान पर रुई से (दवा मिश्रित रुई से) जो कुछ लगाया जाता है, उससे कुछ क्षण जो संवेदना होती है, वह संवेदना रासायनिक है। डॉक्टर लोग हमारे स्वास्थ्य को ठीक करने के लिए उपचार के रूप में हमारे शरीर का स्पर्श कई रूपों में करते हैं। भौतिक रूप में स्पर्श होता है, तथा रासायनिक रूप में भी स्पर्श होता है। यहाँ पर डॉक्टर की मानसिक संवेदना को छोड़ देना चाहिए। डॉक्टर के द्वारा प्रयोग में लाए गए भौतिक तथा रासायनिक उपकरण जिनका स्पर्श डॉक्टर हमारे शरीर से करता है, उन्हें ही लेना चाहिए। इस तरह यदि हम देखें तो स्पर्शानुभूति के विविध रूपों का हमें बोध हो सकता है। भौतिक संवेदना तीव्रतम होती है, इसीलिए आपरेशन के समय बेहोश कर दिया जाता है। उस स्पर्श को हम सह नहीं सकते। इसी तरह रासायनिक स्पर्श के भी अपने अनुभव हैं। इस शरीर को स्पर्श मात्र से कई प्रकार के संवेदनात्मक अनुभव होते हैं। इन अनुभवों में सुखप्रद संवेदनाएँ भी हैं और दुखप्रद संवेदनाएँ भी हैं। दर्द भी संवेदना है। जलन संवेदना है। गुदगुद की अनुभूति संवेदना है। स्पर्श रूप में जितने प्रकार से हम संवेदनात्मक अनुभव करते हैं, उन सब को ध्वन्यात्मक रूप में व्यक्त करना कठिन है।

चेतन का जड़ से जो स्पर्श होता है, उसे हम स्थूल रूप में दो भागों में बाँट सकते हैं। सायास या जानते हुए स्पर्श तथा अनायास या अनजान में स्पर्श। सायास स्पर्श के कई रूप हो सकते हैं, किन्तु इन स्पर्शों में हमारा अनुभव कार्य करता है तथा इस प्रकार के स्पर्शों में प्रयोजन रहता है। इन स्पर्शों के सुखात्मक तथा दुखात्मक संवेदनों को सहने की हमारी मानसिक तैयारी पहले से रहती है। ये स्पर्श ऐसे हैं, जिनका हमारा दैनिक दिनचर्या से या दूसरे शब्दों में नित्यकर्म से सम्बन्ध बना रहता है। हम चेतना से युक्त हैं और कर्म करते समय दैनिक जीवन में वस्तु या पदार्थ से स्पर्श करते ही रहते हैं। चलेंगे तो धरती के स्पर्श की संवेदना होगी, बैठेंगे तो आसन के स्पर्श की संवेदना होगी, सोएंगे तो बिछौने के स्पर्श की संवेदना होगी। कुछ कार्य करेंगे तो कर्मकाल में किसी न किसी वस्तु या पदार्थ का स्पर्श करेंगे। या तो हम किसी को गति देंगे या कोई हमें गति देगा। चाहे जो स्थिति हो... सायास रूप में हम स्पर्श के दैनिक जीवन में विविध प्रकार के अनुभव करेंगे। इन संवेदनाओं में हमारा ज्ञान अनुभव के स्तर पर, अभ्यास हो जाने पर यांत्रिकता की अनुभूति भले ही कराए किन्तु इन सब को सायास स्पर्श ही कहना चाहिए। यह सायास स्पर्श अभ्यास के उपरान्त भौतिक या रासायनिक स्पर्श मात्र रह जाएगा। इन सब स्पर्शों में (भौतिक हो या रासायनिक) यदि चेतना जगी रहती है और इन संवेदनात्मक अनुभव में हमारा मानस भी सक्रिय कार्य करने लगता है तो फिर यह संवेदना यांत्रिक संवेदना मात्र नहीं होगी। संवेदना का अनुभव चेतना को होता है अतः किसी संवेदना के समय हमारा चेतन किस प्रकार व्यवहार करता है या अनुभव करता है, यह देखना चाहिए और इस तरह से देखने पर सायास स्पर्शों में पूर्वानुभव (हमारा ज्ञान) काम करता रहता है। इस तुलना में अनायास स्पर्श के अनुभव एकदम अलग होंगे। हम परिचित मार्ग पर चल रहे हैं (अर्थात् रास्ता चलते समय, जो संवेदना हमें होती है... पैरों के स्पर्श के कारण, उस से हम परिचित हैं) किन्तु चलते चलते अचानक हमारा पैर गढ़े मे गिर जाए या किसी पत्थर से टकरा जाए, ठोकर लग जाए, तो हम गिर पड़ते है, पैर को झटका लगता है या कुछ और प्रकार के स्पर्श का अनुभव हो सकता है। यह स्पर्श-संवेदना अचानक हुई है। इसके लिए हमारी मानसिक तैयारी (पहले से ही) नहीं रही है। ऐसी स्थिति में जो संवेदना होगी वह हमें चमत्कृत करेगी, यह संवेदना अनुमान के विपरीत होगी, नई होगी तथा इसके अनुभव जड़ पदार्थ या जड़ वस्तु के भौतिक या रासायनिक गुणधर्मों के अनुसार होने पर भी ज्ञान की दृष्टि से अचंभे में डालने वाले होंगे। दुर्योधन को जब महल दिखलाने के लिए बुलाया गया और महल में वह अनायास या

अनजाने संवेदनों को अनुभव कर चमत्कृत रह गया । दरवाजे के स्थान पर वह दीवार होने के कारण भीतर जाते-जाते टकरा गया । इसी तरह आंगन समझ कर चलते समय वह पानी में गिर गया । उसको उस समय जो अनुभव हुए, वे सब संवेदनात्मक अनुभव ही हैं और ये अनुभव स्पर्शानुभव ही हैं। द्रौपदी को उस समय हंसी आई थी तथा दुर्योधन को खिसियाना या लजाना पड़ा था । प्रतिक्रिया में दुर्योधन पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ? इसका सम्बन्ध प्रस्तुत प्रसंग से नहीं है । प्रस्तुत प्रसंग में दुर्योधन के संवेदनात्मक अनुभव को हम अनायास या अनजान में हुए संवेदना के अनुभव कहेंगे । दुर्योधन को अनायास संवेदनों के कारण दुखद अनुभव हुए हों किन्तु अनायास संवेदन सुखद भी हो सकते हैं । ये ऐसे संवेदन हैं, जिसके लिए हमारी पूर्व तैयारी नहीं रहती और हमें जीवन में अनुभवों के तथा अनुमानों के विपरीत स्पर्शानुभव करना पड़ता है।

चेतन का चेतन से स्पर्श

चेतन का चेतन से स्पर्श द्विपक्षीय है। इस स्पर्श में शारीरिक संवेदना के साथ साथ हमारे मानवीय सम्बन्ध भी जुड़े रहते हैं। प्राणियों का स्पर्श हो तो प्राणियों के साथ हमारी सम्बन्ध-भावना का अनुभव होता है । जानवर स्पर्श को पहचानते हैं । विशेष रूप से वे जानवर जिन्हें हम पालते हैं और जिनका हमसे संपर्क बना हुआ है, हम उन्हें स्पर्श करते हैं। कुत्ते, बिल्लियाँ, गाय, भैंस, घोड़े आदि सब आपस में तो स्पर्श करते ही हैं किंतु हमें भी संपर्क तथा आवश्यकता के अनुसार स्पर्श का अवसर मिलता ही है। इन प्राणियों के स्पर्शों में एक ओर परिचय का विस्तार है, तो दूसरी ओर उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना भी है ।

अजनबी प्राणी का हम स्पर्श नहीं करते । प्रथमतः स्पर्श करने में भी संकोच, भय, कौतुहल आदि की भावना जगती है। जिन प्राणियों को हम स्पर्श करते हैं, उनसे हमारा परिचय हो गया है । स्पर्श में परिचय का बोध है। परिचय से रागात्मक सम्बन्ध बढ़ता है तथा स्पर्श में फिर यह सम्बन्ध विस्तार पाने लगता है। यह स्थिति उन प्राणियों के लिए ठीक है, जो मनुष्य के लिए उपयोगी हैं और विशेष हानि नहीं पहुँचाते । कुछ प्राणी ऐसे हैं, जिनका स्पर्श हम पसंद नहीं करते या उन से हम भयभीत रहते हैं, उनके स्पर्श का हम साहस नहीं करते । हिंस्र पशु तथा अन्य विषैले जानवरों से हम बचकर रहते हैं । सर्वसाधारण लोग इन पशुओं के स्पर्श से अपरिचित रहते हैं। किंतु

प्राणियों का जिन्होंने विशेष अध्ययन किया है, वे लोग भयानक से भयानक पशु को या जानवर को पकड़ ही लेते हैं तथा मानवीय स्पर्श के आधार पर उनको अपना बना लेते हैं। सरकसों में सिंह, बाघ, बंदर, भालू आदि सभी देखने में आते हैं। इनका मास्टर इनको आदेश देता है और ये सब आदेश का पालन करते हैं। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि मनुष्य के स्पर्श से जानवर भी नमित हो जाते हैं। विषैले सर्पों को सर्प-विशेषज्ञ पकड़ ही लेते हैं तथा उनकी विषैली थैली तथा विषैले दांत निकाल कर उनको फिर सरलता से छूते हैं तथा उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। पशुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पशुओं के मन से मानवीय भय निकालना आवश्यक है। इसी तरह मनुष्य को भी साहस करके स्पर्श कर उन्हें, अपना बनाना है। स्पर्श के द्वारा संकोच तथा भय दूर होता है और हम आपस में परिचित होते हैं।

अपरिचित स्पर्श और वह भी चेतन के अपरिचित स्पर्श से जो संवेदना होती है, उसकी प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र होती है। किसी जानवर को हम पकड़ना चाहते हैं, वह डरकर भागने लगता है। इस भागदौड़ में भय की भावना कार्य करती है। जानवर हमारे हाथ तुरत नहीं आता। मनुष्य की गंध पाकर ही वह भाग जाता है। इसी तरह अचानक तथा अनजान में हमारा स्पर्श किसी अजनबी जानवर से हो जाए तो उस जानवर के भाग जाने पर भी स्पर्श की संवेदना हमें देर तक होती रहती है। छूनेवाला जानवर तो इसलिए भाग जाता है कि वह स्वयं अपनी जान बचाने के लिए भागता है किंतु हम लोग भी नये अपरिचित चेतन स्पर्श का अनुभव कर भयभीत हो जाते हैं। स्पर्श होने के साथ हम अपने स्थान से उछल कर बचाव की दृष्टि से इतनी दूर उछल कर खड़े हो जाते है कि सहज में हम उतनी ताकत से उछल नहीं सकते। विशेष रूप से ऐसा इसलिए होता है कि यह संवेदना एकदम नई है, दूसरे भयसूचक है तथा तीसरे इसमें पीड़ा का बोध (स्पर्श की संवेदना का तुरत बोध) है। कई बार भ्रम के कारण ही हमें विचित्र-विचित्र संवेदनाओं का बोध हो जाता है और वह बोध तब तक बना रहता है, जब तक कि भ्रम दूर नहीं होता। जड़ से जो हमारा स्पर्श होता है, उसमें भ्रम की संभावना, चेतन की अपेक्षा कम ही रहती है। चेतन के स्पर्श में भ्रम की मात्रा अधिक रहती है। कुत्ते के स्पर्श से परिचित होने पर भी नये कुत्ते के स्पर्श में हमें भय होता ही है। जो पशु-प्रकृति से परिचित होते है, उन्हें पशुओं के स्पर्श में सजग रहने का बोध हो जाता है और वे अभ्यास से पशु-स्पर्श का अनुभव सहज रूप में करना सीख

जाते हैं। कुछ लोग विषधारी बिच्छू को सहज पकड़ लेते हैं। वे विषधारी भाग को ही पकड़ लेते हैं, जिससे बिच्छू फिर डंक नहीं मार सकता। इसी तरह लोग विषैले सर्प को भी पकड़ लेते है। इस सब के लिए सजगता तथा साहस अपेक्षित है। स्पर्श के माध्यम से अजनबी को परिचित बनाया जा सकता है।

स्पर्श संवेदना में रागात्मक तत्त्व कार्य करते रहते हैं और इन रागात्मक तत्त्वों को सबसे अधिक मानवीय स्पर्श में अनुभव किया जा सकता है। विशेष रूप से मनुष्य का मनुष्य से जो स्पर्श है, इस स्पर्श में विविध प्रकार के मानवीय संवेदन है। इन संवेदनों को हम भाव तथा विचार से अलग नहीं कर सकते। यदि भाव तथा विचार से अलग रूप में स्पर्श संवेदनों को अनुभव करना चाहेंगे, तो फिर उसे शारीरिक संवेदना ही कहना उपयुक्त होगा। शारीरिक-संवेदना (त्वचा को होनेवाली संवेदना) जड़वत् (शरीर के गुणधर्मों से युक्त होने पर भी) होगी। शारीरिक संवेदना के साथ हमारे संस्कार जुड़े हुए हैं। ये संस्कार हमें स्पर्श के प्रति संवेदनशील बनाने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए हम अभिवादन को ले सकते हैं। अभिवादन के कई रूप हैं। जब भी हम एक दूसरे से मिलते है, तब अभिवादन करते हैं। नमस्कार, नमस्ते, रामराम, जयरामजी, आदाबे अर्ज आदि रूप तो हैं ही किंतु स्पर्श की दृष्टि से देखें तो चरण स्पर्श, हाथ मिलाना, गले लगना, सिर पर हाथ रखना, आदि कई रूप हैं। चरण-स्पर्श में स्पर्श होता है, हाथ मिलाने में हाथ से हाथ का स्पर्श होता है। इसी तरह गले लगने में भी शरीर का शरीर से स्पर्श होता है। आशीर्वाद देते समय सिर पर हाथ रखा जाता है। दंडवत् करने के और भी कई प्रकार है तथा पद्धतियाँ भी है। मंदिरों में जिस ढंग से नमन किया जाता है, उन सब के विविध रूप हैं। यह अन्तर संस्कृतियों का अन्तर है। स्पर्श-संवेदना की दृष्टि से देखें तो इन अभिवादनों के विविध रूपों में स्पर्श के माध्यम से सम्बन्ध भावना को व्यक्त किया गया है। यह सम्बन्ध भावना फिर किसी प्रकार की हो सकती है। अभिवादनों में जहाँ स्पर्श वस्तुतः नहीं होता और शब्दों से काम चला लिया जाता है, वहाँ भी शब्दों में स्पर्श-संवेदना प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त हो जाती है। हम लोग आपस में एक दूसरे को न छूते हुए भी छूने की कल्पना (संवेदन का अनुभवात्मक रूप) कर लेते हैं। यह तो अभिवादन की बात हुई। और भी स्पर्श के अनेक रूप हैं, जिन्हें हम सांस्कृतिक अवसरों पर प्रसंगानुकूल आचरण के रूप में अपनाते हैं और इन स्पर्शों में मानवीय संवेदनों को अनुभव करते रहते हैं।

संस्कार रूप में स्पर्श-संवेदनों को छोड़ दें और सहज प्रवृत्ति के रूप में स्पर्श-संवेदना को देखें तो इसमें वात्सल्य तथा यौन वृत्ति के कारण किए गए स्पर्श को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। शिशु और माता का स्पर्श दोनों को ही जीवन प्रदान करनेवाला है। इस स्पर्श का संवेदनात्मक वर्णन सूरदास ने अपने पदों में विस्तार से किया है। नर तथा नारी का स्पर्श दोनों के लिए ही संवेदनशील है। स्पर्श, प्रेमी युगलों का आदिम तथा प्राथमिक रूप है। इस सम्बन्ध में हेवलॉक एलिस ने लिखा है :– 'चर्म की नींव पर ही सब प्रकार की इन्द्रियानुभूतियाँ विकसित हुई हैं और चूंकि यौन इन्द्रियानुभूति सब तरह की इन्द्रियानुभूति में प्राचीनतम है, इसलिए यह मुख्यतः तथा अनिवार्य रूप से साधारण स्पर्शानुभूति का ही एक सुधरा हुआ स्वरूप है। स्पर्शानुभूति के बहुत बड़े भाग का आदिम चरित्र, इसकी स्पष्टता, साथ ही सर्वमयता चर्म की अनुभूतियों की भावुक गम्भीरता में वृद्धि करती है। इसलिए इन्द्रयानुभूति के सारे क्षेत्र में स्पर्श के क्षेत्र का बुद्धि से कम वास्ता है, पर दूसरी तरफ उसमें अत्यन्त तगड़ी भावालुता की गुंजाइश रहती है। ये गुण, साथ ही यौन स्फीति और यौन स्खलन के यंत्र के साथ इनका अन्तरंग तथा आदिम सम्बन्ध स्पर्श को सबसे सुलभ पर साथ ही सब से शक्तिशाली साधन बना देते है, जिसके द्वारा यौन मण्डल में पहुँचा जा सकता है'।' तात्पर्य यह है कि भाव-जीवन में स्पर्श-संवेदना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संवेदना के विस्तार में यहाँ नहीं जाना है। फिर भी यह कहना है कि नर तथा नारी में स्पर्शानुभूति के प्रति सहज आकर्षण बना हुआ है और यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। यह शरीर की प्राकृतिक भूख है और मूल रूप से आदिम तथा प्राथमिक सहज प्रवृत्ति है। रामधारीसिंह दिनकर ने उर्वशी काव्य में इस स्पर्श-संवेदना का आदिम रूप सहज रूप में चित्रित किया है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शरीर के भीतर के बहते आवेग को, उद्दाम उफान को, जलती ज्वाला को सहज रूप में स्पर्श-संवेदनों में व्यक्त कर दिया। कामायनी में जयशंकर प्रसाद मनु तथा श्रद्धा का वैसा उफान व्यक्त नहीं कर सके। जयशंकर प्रसाद इस तुलना में अधिक संयमी, अधिक सुसंस्कृत, अधिक मानवीय सिद्ध हुए हैं। नर-नारी के आदिम सम्बन्धों को दोनों ने ही व्यक्त किया है किन्तु दोनों में बहुत भेद है और यह भेद इतना स्पष्ट है कि इसको सहज ही में पहचान लिया जा सकता है। स्पर्श-संवेदना का सहज चित्रण तथा सहज स्फुरण उर्वशी में ही अभिव्यक्त है। उर्वशी में यह वर्णन द्विपक्षीय है। पुरुरवा तथा उर्वशी दोनों के संवेदनों का आपस में टकराव है और यह टकराव अधिक उन्मुक्त तथा संवेदनशील है।

यहाँ संवेदना का स्वरूप शारीरिक माँग के अनुरूप है तथा इस माँग के विकास का सहज विकसित रूप कवि ने दोनों के संवादों में व्यक्त किया है। पुरुरवा तथा उर्वशी के संवाद की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं।

पुरुरवा कहता है :–

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।
पर, जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

उर्वशी ने उत्तर दिया :–

इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जूही की कली-सी ?
गौर चम्पक यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा के स्वप्न-साँचे मे ढ़ली सी ?
यह तुम्हारी कल्पना है प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल कपूर कुंकुम से
इस अतुल सौंदर्य का श्रृंगार कर लो।[२]

इस संवाद से दोनों के उद्दाम आवेग का पता चल जाता है। इन पंक्तियों में सौंदर्य का वर्णन भी है किन्तु वह सहज आवेग के उफान से युक्त है। इस सौंदर्य में उपभोग है और उपभोग संवेदनशील है। सच तो यह है कि सौंदर्य की भावना के निखार में इस आवेग के उफान ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस तुलना में हम जयशंकर प्रसाद को भी देख सकते हैं। कामायनी में जयशंकर प्रसाद ने नर तथा नारी की इस भूख का वर्णन करते समय बहुत संयम से काम लिया है और उनके इस संयम ने कामायनी की श्रद्धा को मानवीय संवेदनाओं से अधिक युक्त बना दिया है। नारी में यौन वृत्ति के आगमन के बाद जो हलचल होती है, उसके कारण उसके सौंदर्य में निखार आता है और सौंदर्य का यह निखार लज्जा वृत्ति में अधिक व्यक्त होता है। कामायनी

का लज्जा सर्ग इस दृष्टि से विश्व साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। रामधारीसिंह दिनकर ने उफान को उन्मुक्त रूप में बहने दिया किन्तु जयशंकर प्रसाद ने उस उफान को–प्रबल आवेग को–संयम से रोक लिया। उनके इस संयम ने उफान की ताकत को कम नहीं किया अपितु रोकने से वह ताकत अन्य रूपों में व्यक्त हुई। उस ताकत के अन्य रूप लज्जा के विविध अंग हैं। लज्जा, सौंदर्य की धात्री है और वह कहती है :–

उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के,
सपने सब जगते रहते हैं।
मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगनेवाली है
उसको धीरे से समझाती।[३]

संक्षेप में जयशंकरप्रसाद ने इस आदिम उफान को सहज रूप में चित्रित करते हुए भी उसे मानवीय संस्कारों से युक्त कर दिया। जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा न केवल अपने को संयमित करती है अपितु वह मनु को भी ठीक करती है। स्पर्श-संवेदना की दृष्टि से देखें तो उर्वशी अधिक सफल रचना है और इन संवेदनों के संस्कारों को देखें तो कामायनी और उत्कृष्ट है।

स्पर्श-संवेदना में जीवन है। इसमें एक में दूसरे को आत्मसात किया जाता है तथा बहाया जाता है। यह जीवन के आदान-प्रदान का प्राथमिक तथा आदिम रूप होने पर भी उसका यह रूप आज भी (अनेक संस्कारों के होने पर भी) चेतना से पूर्ण है।

संदर्भ

१. यौन मनोविज्ञान, हेवलॉक एलिस, अनुवादक मन्मथनाथ गुप्त पृ. ५२.

२. उर्वशी, रामधारीसिंह दिनकर।

३. कामायनी, जयशंकरप्रसाद, लज्जा सर्ग से।

○ ○

रस

रस का सम्बन्ध जिह्वा से है। यह आस्वादन से सम्बन्ध रखने वाला है क्योंकि हम रस का आस्वादन करते हैं। आस्वादन का काल रस की संवेदना का काल है। जिह्वा को हम रसना कहते हैं क्योंकि जिह्वा रस का आस्वादन करती है। जो रस ले सके, वह रसना है। रस का सम्बन्ध आस्वादन से होने के कारण यह उपभोग और आनन्द का भाग है। रस को आनन्द सदृश माना गया है। रस के साथ आस्वादन के विषय जुड़े हुए हैं। रस का विवेचन करते समय आस्वादन के विषयों का विवेचन करना पड़ता है। यहाँ पर रस का विवेचन करते समय आस्वादन की प्रक्रिया तथा आस्वादन के विषयों को ध्यान में रखा जा रहा है। मान्यता तो यह है कि रस 'चरम मूल्य' हैं!

संवेदन की दृष्टि से स्थूल रूप में षड्रस का उल्लेख किया जाता है। ये हैं... मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त। किन्तु व्यवहार में, संवेदन में ही हमें कई प्रकार के रसों का अनुभव है। आम भी मधुर है, अंगूर भी मधुर है, इसी तरह मधुर की कोटि में आनेवालों की संख्या में कई पदार्थ आएंगे। ठीक यही स्थिति आम्ल से तिक्त तक रसों की है। हमें यों कहना चाहिए कि वागी

में हमारे पास रस की संवेदना के लिए शब्दों का अभाव है । हम आम खरीदने जाते हैं तो आमवाला हम से कहता है कि आम चख कर देखिए । केवल मीठा है कहने से कौन विश्वास करेगा ? हर आमवाला यही कहता है । अतः हम चख कर देखते हैं और जब आम की मिठास हमें उचित प्रतीत हो तो हम आम खरीदते हैं । चख कर देखना प्रत्यक्ष प्रमाण है । रस, वह किसी प्रकार का हो, उसके अनुभव के लिए आस्वादन की आवश्यकता है । कहते हैं... 'गूंगे ने गुड़ खाया, खट्टा न मीठा ।' गूंगा आदमी बोल नहीं सकता । किन्तु हमारे पास वाणी होकर भी हम सब प्रकार के आस्वादन को व्यक्त नहीं कर सकते स्वयं आमों के ही इतने प्रकार हैं कि सब के नाम हम नहीं जानते । उन सब के स्वादों में अन्तर है । यह मलगोबा का स्वाद है, यह बैंगनपल्ली का स्वाद है या यह नीलम का स्वाद है । इसी तरह तोतापरी आदि आमों के कई प्रकार हैं । हमें स्वाद का उल्लेख करते समय पदार्थ का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है । गुड़ का स्वाद मिश्री में नहीं और मिश्री का स्वाद गुड़ में नहीं है । रस चाहे वह किसी पदार्थ का हो, उसका बोध हमें पदार्थ के बोध के साथ संभव है । भाषा में हम इसीलिए आम का रस, नींबू का रस, संतरे का रस, अंगूर का आसव (रस), आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं । स्वयं खाद्य या पेय पदार्थ के नाममात्र के उल्लेख से हमें उसके रस के आस्वादन का ज्ञान (पूर्वानुभव हो तो) हो जाता है ।

रस के साथ पदार्थ का नाम जुड़ा हुआ है । रस का साधारण रूप में तरल पदार्थ से अर्थ लिया जाता है किन्तु इस शब्द का बहुत व्यापक अर्थ भी हो गया है । रस, पीने का पेय है; फिर यह रस किसी पदार्थ का हो । जिस पदार्थ का रस तैयार किया जायगा, उसका रस वैसा ही होगा । अर्थात् रस का स्वाद तत् तत् पदार्थ के अनुसार होगा ।

रस वस्तुतः किसी पदार्थ या वस्तु का सार या निचोड़ है । उसका अभिधात्मक अर्थ यही है । रस अपने आप में तरल होता है और पेय है । उसके इस अभिधात्मक अर्थ का बहुत विस्तार हुआ है । इस विस्तार में दो बातें मुख्य है, एक है सार या निचोड़ और दूसरा है आस्वादन के योग्य । इंद्रिय-संवेदन के रूप में रस का सम्बन्ध रस के अभिधात्मक अर्थ से ही है । और यह इन्द्रिय 'रसना या जिह्वा' ही है । व्यापक अर्थ में अन्य इंद्रियाँ भी रस लेती हैं, मन भी रस का अनुभव करता है और आत्मा भी रस का अनुभव करती है । इस स्थिति में रस मूल अर्थ से हटकर व्यापक अर्थ देते हुए भी मुख्य बात जो इन सब में

है, वह सार या निचोड़ है और दूसरे आस्वादन योग्य है । इन दोनों के अभाव में रस का अनुभव किसी भी रूप में संभव नहीं है ।

रस की कोटि में आनेवाले विषय रसचर्चा के विषय हैं । इनका सम्बन्ध सामान्य रूप में (अभिधात्मक अर्थ में) पेय पदार्थों से लिया जाता है। समझने के लिए हम इनकी ही चर्चा करें । जो हम पीते हैं, वह रस है । फलों का रस ही नही, अपितु दूध तथा जल को भी हम रस के अर्थ में लेते हैं । (अन्य पेय पदार्थो को भी) रस की एक विशेषता यह है कि वह तरल है और जिह्वा को उसका आस्वादन तुरत प्राप्त होता है । आप संतरा खाइए और संतरे का रस पीजिए। अन्तर ज्ञात हो जाएगा । रस की संवेदना जिह्वा को तुरत होती है। इसमें दाँतों को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है। रस जब जिह्वा पर होता है, उस समय आस्वादन की प्रक्रिया जारी रहती है । यह प्रक्रिया इतनी सीधी और सरल है कि इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं । बालक और बूढ़े सभी रस का आस्वादन सरलता से करते है । जिह्वा से रस भोजन-नालिका से नीचे उतर जाता है और बाद में उसका प्रवेश आमाशय में हो जाता है । रस की संवेदना, रस के जिह्वा से नीचे उतरने पर नहीं होती; आमाशय में पहुँचने पर तृप्ति का अनुभव हो सकता है । यह अनुभव रस की संवेदना से भिन्न है। रसचर्चा के समय हम रस की संवेदना को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं । रस के संवेदन से रुचि बनती है । जिस पदार्थ के रस का सेवन हमने किया है, उसकी रुचि का हमें ज्ञान हुआ है । रुचि-निर्णय प्रायः व्यक्ति का अपना निर्णय होता है। चार प्रकार के रस मेरे सम्मुख रखे हुए हैं, इनमें मुझे कौनसा रस प्रिय है, यह मेरा अपना निर्णय है। मेरा अपना निर्णय भी उसी समय ठीक होगा, जब मैं उन चारों रसों का कुछ मात्रा में सेवन करने या उन सब रसों का आस्वादन करने के बाद निर्णय दूँ । जिस रस का हम सेवन न करें और उसके सम्बन्ध में निर्णय देना चाहें, तो यह निर्णय गलत होगा । जब हम रसचर्चा करते हैं या किसी रस के सम्बन्ध में अपनी रुचि को व्यक्त करते हैं, तो रस से सम्बन्धित विषय (वस्तु या पदार्थ) की ही चर्चा करते हैं । रस का उपभोग किए बिना रस की चर्चा नहीं की जा स ती है और न ही हमारी रुचि बनती है और न ही हम रुचि-निर्णय कर सकते हैं ।

स्वास्थ्य के लिए जो पोषक तत्त्व होते हैं, उनमें रसों को प्रधान माना गया है। जीव का पोषण रस के आधार पर होता है । जब हम कहते हैं कि हम रस के जीव हैं, इसका अर्थ यही हुआ कि रस के बिना हम रह नहीं सकते । रस,

जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। वह भोजन का मूल तत्त्व है। रस बना-बनाया (रेडीमेड) आहार है। रस का प्रयोग इस नाते सभी लोग करते हैं। प्राकृतिक रूप में जीव का सम्बन्ध रस से बना हुआ है। इस चरम आवश्यकता के साथ रुचि-बोध जुड़ा हुआ है। कहते हैं... 'भूख अपने आप में पदार्थ में स्वाद जगा देती है।' कांट ने लिखा है :- 'बुभुक्षा सर्वाधिक स्वादिष्ट व्यंजन है और स्वस्थ क्षुधासम्पन्न लोग उस सीमा तक हर वस्तु का रसास्वादन करते हैं जिस सीमा तक कि वह कोई ऐसी वस्तु होती है जिसका भोग वे कर सकते हैं परिणामतः ऐसा आनन्द उस रुचि का कोई संकेत नहीं देता जिसे अपनी पसन्द के विषय में कुछ कहना हो। केवल तभी हम यह कह सकते हैं कि मानव समुदाय में किस व्यक्ति के भीतर रुचि है अथवा किस व्यक्ति के भीतर नहीं है जब कि मनुष्यों को वह सब कुछ प्राप्त हो जो वे चाहते हैं।'[1] रुचि-निर्णय व्यक्ति पर निर्भर है और यह उस स्थिति में संभव है, जब व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के आस्वादनों का अवसर मिले। इन आस्वादनों के समय आवश्यकता हो सकती है। किंतु इसके साथ साथ जिज्ञासा, कौतुहल आदि भी कार्य कर सकते हैं। आस्वादन के अवसर किसी भी कारण से मिले, यदि मिलते हैं तो इनसे लाभ उठाना चाहिए। आवश्यकता की तृप्ति के उपरान्त जिज्ञासा और कौतुहलवश यदि विविध-व्यंजनो का आस्वादन लें, तो इससे रुचि-परिष्कार होता है। पेटू और रुचि से खानेवाले में अन्तर है, इस बात को सभी जानते हैं। पेटू खाने से काम रखता है, उसके लिए खाना ही सब कुछ है किन्तु रुचि से खानेवाला आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी खाने का आनंद लेता है। अवसर मिलने पर भी यदि रुचि-परिष्कार का प्रयत्न न किया जाए तो इस स्थिति में रुचि बंध जाती हैं। बंधी हुई रुचियों से सुख की सीमाएं बन जाती हैं।

हम चाहते हैं कि हमारी रुचियाँ परिष्कृत हों। इससे जीवन सुखमय होगा। खाने-पीने की रुचियों का व्यक्ति-जीवन में बहुत महत्त्व होता है। हमारी अन्य रुचियों पर खाने-पीने की रुचियों का प्रभाव पड़ता है। मनोविज्ञान की तकनीक में इन दिनों काफी विकास हुआ है। खाद्य-सामग्री का व्यक्ति-जीवन पर तथा उसके चरित्र या व्यक्तित्व पर जो प्रभाव पड़ता है, उस सब का अब अध्ययन हो रहा है। यद्यपि यह अध्ययन अभी बहुत व्यापक नहीं किन्तु इधर जनसंख्या के बढ़ने के कारण एवं भोजन की सामग्री के उपलब्ध साधनों को देखते हुए इस विषय पर अध्ययन होने लगा है। भोजन की सामग्री पर इधर वैज्ञानिकता का जो प्रभाव पड़ा है, तथा पड़ने की संभावना है, इस पर बर्ट्रेंड

रसेल ने लिखा है :– 'कृत्रिम भोजन का उत्पादन करने की समस्या एक शुद्ध रासायनिक समस्या है और इस बात का कोई कारण नहीं है कि इस समस्या को असाध्य मान लिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृतिक भोजन का स्वाद अधिक अच्छा होगा और धनी लोग शादियों और दावतों के अवसर पर असली प्राकृतिक मटर और सेम खिलाएंगे, जिसका उल्लेख समाचार पत्रों में बड़ी गम्भीरता से किया जाएगा। किन्तु मुख्य रूप से भोजन बड़ी-बड़ी रासायनिक फैक्टरियों में तैयार किया जाएगा। खेतों में खेती करना बन्द हो जाएंगा और खेतिहर मजदूरों का स्थान रसायन-विशेषज्ञ ले लेंगे। ऐसी दुनिया में मनुष्य के लिए जीव-वैज्ञानिक प्रक्रियाओं में कोई रुचि नहीं रह जाएगी, शायद उन प्रक्रियाओं को छोड़कर जो स्वयं उसके भीतर होती हैं। ये प्रक्रि-याएँ दृष्टि से इतना ओझल रहेंगीं कि मनुष्य अधिकाधिक रूप में खुद अपने-आपको भी एक निर्मित उत्पादन मानने लगेगा। वह केवल उन चीजों को मूल्यवान समझने लगेगा और मनुष्यों की उत्पत्ति में प्राकृतिक विकास का सहयोग न्यूनतर मानने लगेगा। वह केवल उन चीजों को मूल्यवान समझने लगेगा जो प्रयत्नपूर्वक किए गए मानवीय कर्तृत्व का परिणाम होंगी, न कि उन चीजों को जो प्रकृति के कौशल से, बिना मनुष्य की सहायता के अपने आप उत्पन्न होती हैं। स्वयं अपने आपको बदल देने की शक्ति मनुष्य को प्राप्त हो जाएगी और वह अनिवार्यतः इस शक्ति का उपयोग करेगा। मनुष्य जाति को कौन-सा रूप इस शक्ति के प्रयोग से मनुष्य दे देगा, इसकी भविष्यवाणी करने का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता।"[२] यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि भोजन की सामग्री पर वैज्ञानिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और इस प्रभाव ने हमारी रुचियों को प्रभावित किया है। बना–बनाया आहार (रेडीमेड फूड) अब उपलब्ध हो रहा है। इस आहार में मूल प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग किया जाता है किन्तु खानेवाले को उन मूल प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान नहीं होता और न ही वह उन प्राकृतिक पदार्थों को जानता है। रसायन विशेषज्ञ ही इन से परिचित रहते हैं। मैं यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि रसनेन्द्रिय द्वारा जिस पदार्थ का रसास्वादन हम करते हैं, उस पदार्थ से परि-चित हों। रसना ज्ञानेन्द्रिय है और रस की संवेदना का ज्ञान हमें होना चाहिए। केवल खाना है, इसलिए खाएं, या पीना है इसलिए पीएँ, यह तो ऐसे ही हुआ कि हम औषधि ले रहे हैं। बहुत–से लोग दवाइयों पर जीवित रहते हैं और नियमित गोलियाँ खाते हैं। दवाइयों में, रस नहीं होता है, ऐसी बात नहीं (कोई न कोई रस तो है ही)। किंतु इस रस में हमारी रुचि नहीं होती। परिणाम तथा आवश्यकता को देखते हुए दवाई को आमाशय में उतारना

हमारा लक्ष्य होता है। किसी तरल पदार्थ, दूध, चाय या पानी के सहारे हम गोलियों को गले के नीचे उतार देते हैं। रसनेन्द्रिय को उसके स्वाद का अवसर नहीं दिया जाता। बहुत-सी गोलियाँ शूगर-कोटेड होती हैं। मूल स्वाद से बचने के लिए, यह प्रयास किया जाता है। खाने-पीने के सुख से वंचित होना, जीवन के मूल सुख के स्रोतों से वंचित होना है।

वाल्मीकि ने अपने रामायण में रावण की पानभूमि (डाइनिंग रूम) का विस्तृत रूप में वर्णन किया है। हनुमान सीता की खोज में लंका में रावण की पानभूमि में पहुँच गए। सुन्दरकाण्ड के ग्यारहवें सर्ग में रावण की पानभूमि का वर्णन है। यह रात का समय था। सब लोग खा-पीकर निद्रालीन थे। खा-पीकर उठने के बाद बचे हुए जो खाद्य पदार्थ उस पानभूमि में रह गए थे, उसे शांत वातावरण हनुमान ने जैसे देखा, उस रूप में वर्णन है। लिखा है :-

शर्करासवमाध्वीकपुष्पासव फलासव:
वासचूर्णैश्च विविधैःदृष्टास्तैस्तैः पृथक् पृथक्। २२।
संतता शुशुभे भूमिर्माल्यैश्च बहुसंस्थितै:
हिरण्मयैश्च विविधैर्भाजनैः स्फटिकैरपि। २३।
जाम्बूनदमयैश्चान्यै। करकैरभिसंवृता।
राजतेषु च कुम्भेषु जाम्बूनदमयेषु च. । २४।
पानश्रेष्ठं तथा भूरि कपिस्तत्र ददर्श स:
सोऽपश्यच्छातकुम्भानि शीधोर्मणियानि च। २५।
राजतानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपि:
क्वचिदर्धावशेषाणि क्वचित् पीतानि सर्वश:। २६।
क्वचिदन्नैव प्रपीतानि पानानि स ददर्श ह।
क्वचिद्भक्ष्यांश्च विविधान् क्वचित पानानि भागश:। २७।
क्वचिदन्नावशेषाणि पश्यन् वै विचचार ह।
क्वचित् प्रभिन्नः करकैः क्वचिदालोलितैर्घटैः। २८।

—सुन्दरकाण्ड, ग्यारहवें सर्ग से।

अर्थात : कहीं पर चुआए हुए मद्य, कहीं गुड़ से बने, कहीं दाख के तो कहीं फूल के और कहीं फल के-अनेक प्रकार से निकाले गए-मद्य अनेक प्रकार की सुगन्धियों से युक्त किए अलग अलग रखे देख पड़ते थे। उस पानभूमि की शोभा, पुष्पों के ढ़ेर, सुवर्ण के कलशों, स्फटिक पात्रों तथा कांचन के करवों से

युक्त थी। चांदी और सुवर्ण के बड़े-बड़े कुण्डे वहाँ रखे हुए थे। जो उस पान-भूमि को शोभायमान कर रहे थे। कहीं सुवर्ण तो कहीं रत्न के पात्रों में मद भरा हुआ था। उनमें कुछ आधे खाली, कुछ बिल्कुल खाली (पिए हुए होने के कारण) और कुछ पूरी तरह भरे हुए थे। कहीं भक्ष्य-पदार्थ आधे खाए हुए पड़े थे। इस प्रकार कपि ने वहाँ रावण की पानभूमि देखी। (सीता का वहाँ कहीं पता न था।)

यह वर्णन बहुत विस्तृत है। वाल्मीकि के वर्णनों को गणनात्मक उल्लेख के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह वह चित्र है, जिसमें संवेदना का बोध है। वर्णनों में अर्थ के साथ–साथ बिम्ब भी हैं। वाल्मीकि ने अनेक खाद्य–पदार्थों का तथा उनके स्वादों का वर्णन किया है। चाटने योग्य, पीने योग्य तथा खाने योग्य विविध पदार्थों के उल्लेख मिलते हैं। वाल्मीकि के वर्णनों में आकार, खाद्य–सामग्री, तदनुसार चरित्र–चित्रण, रसास्वाद का चरित्र पर प्रभाव, तदनुसार वातावरण आदि सब में इतना संतुलन है कि एक को दूसरे से अलग नहीं कर सकते। इस पानभूमि के वर्णन में ही, सभी प्रकार के इन्द्रिय–संवेदन (रूप–रस–स्पर्श–गंध तथा शब्द) बिंब रूप में प्रस्तुत हैं। हनुमान ने रावण को सोते हुए निहारा। रावण, हनुमान को जिस रूप में दिखलाई देते हैं, उसका शब्द–चित्र है। रावण ने पानभूमि में सभी प्रकार के रसों का आस्वादन किया है। सोते समय उसके मुख से निकलते हुए श्वास में जो गन्ध व्याप्त थी, उस गन्ध की संवेदना में रस की संवेदना में व्याप्त है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

> चूतपुंनागसुरभिर्बकुलोत्तमसंयुतः
> मृष्टान्नरससंयुक्तः पानगन्धुपरः सरः। २३।
> तस्य राक्षससिंहस्य निश्चकाम महामुखात्.
> शयानस्य विनिः श्वासः पूरयन्निव तद्गृहम्. । २४।
>
> – सुंदरकांड, दसवाँ सर्ग।

भावार्थ : रावण (राक्षराज) के मुख से निकले श्वास की गंध आम, नागकेसर और मौलसिरी के पुष्पों से वासित थी। उस गंध में षड्रस–अन्न और मिश्रित पान किए हुए मद्य की गंध भी थी। उस महामुख से निकलनेवाली यह गंध, उसके साँस लेने के कारण, उस गृह को आपूरित किए हुए थी। अस्तु।

रस की संवेदना का संबंध हमारे आहार की सामग्री से है। हमारा जो आहार होता है, उसका प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक स्वास्थ्य दोनों पर पड़ता है। व्यक्ति जिस भू-भाग पर रहता है, उसे वहाँ पर उपलब्ध खाद्य-सामग्री मिलती है। देश-देश की खाद्यसामग्री में भेद है। तदनुसार रुचियाँ बनती हैं। स्वयं भारतवर्ष में ही प्रांत-प्रांत में इस भेद को देखा जा सकता है। मद्रासी भोजन तथा उत्तर प्रदेश के भोजन में भेद है। इस भेद के रहते हुए भी सामान्य रुचियाँ हम सब की बनी हुई हैं। विशेष रूप से सामूहिक-स्तरपर एकत्रित होकर अवसर विशेष के अनुसार हम सब लोग जो कुछ खाते या पीते हैं, इस आधार पर सामान्य रुचि-बोध को पहचाना जा सकता है।

हम एक पंक्ति में बैठकर खाएँ या एक मंच पर बैठकर जलपान करें तो यह एक प्रकार से स्नेह का मिलन होता है। एक ही प्रकार की रुचि में सामूहिक स्तर पर यदि एक ही समय में रसास्वादन किया जाय तो इसमें हमारी संस्कृति व्यक्त होती है। विशेष रूप से ऐसे अवसरों पर जिन खाद्य या पेय पदार्थों या रसों का हम सेवन करते हैं, वे खाद्य पदार्थ या पेय पदार्थ हमारे देशगत तथा आचारगत रुचि-बोध के परिचायक हैं। हम अपने अतिथियो को जो खिलाते या पिलाते हैं, उनमें हमारा यहि रुचि-बोध व्यक्त होता है। खिलाने वाला और खानेवाला इसी तरह पिलानेवाला और पीनेवाला दोनों प्रसन्न रहते हैं तो इसमें जो रस-ग्रहण (आस्वादन) होता है, वह रस-ग्रहण व्यापक स्वरूप धारण कर लेता है। इसमें केवल क्षुधा ही तृप्त नहीं होती अपितु हमारा मानस भीं तृप्त होता है।

खान-पान में हमारी अभिरुचि संस्कार और अभ्यास के कारण बनती है। एक अवस्था के बाद नये पदार्थों में हम उतनी रुचि नहीं लेते, जितनी अभ्यस्त पदार्थों में रुचि लेते हैं। इस दृष्टि से घर-घर में रुचि-भेद है और जब हम कहते हैं कि आज घर का भोजन मिला तो इसका अर्थ हमारी अपनी अभि-रुचि का भोजन मिला है, यह लेना चाहिए। जिन पदार्थो का सेवन हम अधिक मात्रा में और बार-बार करते हैं, उनका प्रभाव हमारे मानस पर पडता है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनुष्य के नियमित आहार का चरित्र पर पड़ने-वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है –'स्विटजर-लैंड में कानून द्वारा यह नियम बना दिया गया है कि मनुष्यों के उपयोग में आनेवाले सारे नमक को आयोडित किया जाय और यह तरीका जड़वामनता

के निरोध के लिए पर्याप्त और सफल पाया गया है। भावनाओं पर वाहिनी-हीन ग्रन्थियों के प्रभाव के सम्बन्ध में कैनन तथा अन्य लोगों ने जो काम किया है, वह व्यापक रूप में प्रख्यात हो चुका है और यह स्पष्ट है कि वाहिनीहीन ग्रन्थियो द्वारा जो पदार्थ उपलब्ध होते हैं उन्हें कृत्रिम ढ़ंग से शरीर में प्रविष्ट किए जाने से मनुष्य के स्वभाव और चरित्र पर गम्भीर प्रभाव डाला जा सकता है। काफी लम्बे समय से हम लोग अल्कोहल, अफीम और अन्य तमाम औषधियों के प्रभावों से परिचित हैं, किन्तु यदि इनको असाधारण रूप से संयत मात्रा में न लिया जाय तो इनके प्रभाव अन्ततोगत्वा हानिकारक होते हैं। फिर भी ऐसा कोई प्रागनुभव पर आधारित कारण नहीं है कि जो औषधियाँ पूर्णतः लाभदायक प्रभाववाली हैं उनकी भी खोज न की जाय। मैंने स्वयं ही चाय पीने का प्रभाव अच्छा ही पाया है, कम-से-कम यदि वह चीनी चाय हुई तो।'[3] इस तरह रस के सम्बन्ध में अपने-अपने अनुभव हो सकते हैं। इस मामले हम अपने ही अनुभवों को अधिक प्रमाण मानते हैं। विशेष अध्ययन द्वारा विशेषज्ञ यदि मत व्यक्त करते भी हैं, तब भी प्रमाण की प्रतीक्षा में हम रहते ही हैं।

रसना द्वारा, जो रस-ग्रहण किया जाता है, वह रस-ग्रहण इंद्रिय संवेदन का वह भाग है, जिसे हम प्रत्यक्ष रस-ग्रहण कह सकते हैं। इस प्रकार के रस-ग्रहण में भी जब हमारी रुचियाँ सीमित हो जाती हैं. तो अन्य प्रकार के रस-ग्रहण के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? रस, को उपभोग, रसास्वादन तथा आनंद के रूप में लें तो इसकी प्रतीति में प्रत्यक्ष रस-ग्रहण (रसना के माध्यम से) अधिक सहायक है। ज्ञान का यह मूल साधन है, जिसका सम्बन्ध सीधे, उपभोग तथा आनंद से जुड़ा हुआ है। काव्य के अंतर्गत जिस रस की चर्चा की जाती है, वह इस रस की व्याप्ति का भाग है। उस स्थिति में भाव तथा विचारों को सामान्य भावभूमि पर पहुँच कर सार-रूप में हृदयंगम किया जाता है। जैसे खान-पान में रुचि-भेद है, उसी तरह भावों और विचारों में भी रुचि-भेद है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस रुचि-भेद को पहचाना है और इस आलोक में उन्होंने साधारणीकरण के साथ व्यक्तिवैचित्र्यवाद रखा है। हमारी अपनी रुचियाँ संस्कारवश या अभ्यासवश जो बन जाती हैं, वे यदि सार्वजनीन रुचियों से मेल खाने लगती हैं तो हमारा यह रस-ग्रहण (हमारी अपनी संवेदना का अंग होते भी) व्यक्तिवैचित्र्यवाद का भाग नहीं रह जाता। जिज्ञासा, कौतुहल, आश्चर्य आदि से आगे बढ़कर हम स्वस्थ अभिरुचि की ओर बढ़ते हैं। यह ज्ञान का भावरूप में आस्वादन है।

संदर्भ

१. सौंदर्य मीमांसा, इमैनुअल कांट, अनुवादक : रामकेवलसिंह, पृ. ९.

२. वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : श्री. गंगारतन पांडेय, पृ. १२७–१२८.

३. वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेण्ड रसेल, अनुवादक : गंगारतन पांडेय, पृ. १४३.

○ ○

रूप

रूप का सम्बन्ध दृष्टि से है। लोक में जो भी दृश्यमान है, वह सब रूप के अन्तर्गत है। सभी दृश्यमान वस्तुओं, पदार्थों, स्थानों या प्राणियों से मनुष्य का प्रत्यय हुआ है, ऐसी बात नहीं है। 'रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहचानें।' अर्थात रूप के लिए अभिव्यक्ति का आधार चाहिए। नाम के अभाव में (शब्द में) रूप की अभिव्यक्ति अपूर्ण है। रूप का होना और न होना बराबर है। हम रूप को पहचानें या न पहचानें, रूप तो है और वह रहेगा। प्रश्न यहाँ रूप के प्रत्यय का है। रूप का प्रत्यय हुए बिना अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकती।

दृश्य-संवेदना का काल किसी रूप के प्रत्यय का काल है। प्रत्यय-काल में हम चिन्तन करते हैं। यह ज्ञान की प्रक्रिया है। मैं यहाँ दर्शन में उलझना नहीं चाहता। सरल रूप में मैं यह कहना चाहता हूं कि दृश्य-संवेदना ज्ञान का प्रत्यक्ष माध्यम है। इस संवेदना को मनुष्य अनुभव करता है और इस अनुभव के आधार पर अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता रहता है। भाषा में, हम सभी शब्दों का अर्थ नहीं जानते। सच तो यह है कि 'शब्द' अभिव्यक्ति है। बात

यह है कि शब्द के अर्थ से परिचित होने के लिए (ज्ञान के लिए) हमें संवेदनशील होना पड़ेगा।

किसी रूप को देखने के बाद हमारे भीतर क्या घटित होता है ? मैं यहाँ रूप को मूर्त एवं दृश्यमान के अर्थ में ले रहा हूँ। अतः किसी रूप को जब हम देखते हैं तो उसके प्रति हमारी संवेदना जागना स्वाभाविक है। मेरे सामने ढ़ेर-सी चीजें पड़ी हुई हैं। मैं उन्हें देख रहा हूँ। किन्तु उन सब के प्रति मेरी संवेदना नहीं जागती। उन सब का देखना प्रत्यय के अभाव में (जिनका प्रत्यय हो उनको छोड़कर) न देखने के समान ही है। 'करतल गत न परहिं पहिचाने' वाली बात ही है। हम किसी रास्ते से गुजर रहे हैं। हमारा ध्यान गन्तव्य-स्थल की ओर है। रास्ते के व्यवधानों से बचकर हम शीघ्र अपने गन्तव्य-स्थल पर पहुँचना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में रास्ते से गुजरते समय जो कुछ भी दृश्यमान है, उन सब की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जहाँ ध्यान जाता है और जिस किसी का प्रत्यय हमें आता है, वहाँ हममें संवेदना जागती है।

प्रत्येक मूर्त तथा दृश्यमान रूप में अमूर्त अर्थ समाया हुआ है। वह अमूर्त अर्थ मूर्त से भिन्न नहीं है। किसी मूर्त रूप का ठीक अर्थ, वह मूर्त रूप ही है। यह सभी जानते हैं कि अर्थ (जिस किसी शब्द का हो) शब्द से भिन्न नहीं होता। मूर्त के भीतर जो अमूर्त अर्थ है, उसको पहचानने से, उस मूर्त के प्रति हमारी संवेदन-क्षमता बढ़ती है। इसे हम चाहे तो उस मूर्त का ज्ञान होना कह सकते हैं।

बर्कले (१६८५ ई० से १७५३ ई०) प्रायः अपने विद्यार्थियों से कहा करता था कि वे इस बात का प्रयत्न करके देखें कि वे स्पष्टतः अपने शब्दों के अर्थों को विशेष उदाहरणों (दृष्टांतों) के साथ सोच सकते हैं या नहीं। उसने लिखा है :– यह अपेक्षित है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्ययों की स्पष्ट धारणा बनाने के लिए श्रमसाध्य प्रयत्न करे, और उन्हें शब्दों के समस्त आवरण और आडंबर से पृथक करें, जो निर्णय को दूषित तथा ध्यान को विभाजित करने का कार्य करते हैं। हम व्यर्थ ही अपनी दृष्टि को आकाश तक फैलाते हैं और पृथ्वी की अतल गहराइयों में सर खपाते हैं तथा व्यर्थ ही पंडितों की कृतियों की संमति लेते और अतीत के अंधकारमय पद–चिह्नों का अनुसंधान करते हैं। हमें ज्ञान का सुंदरतम वृक्ष पाने के लिए, जिसका फल उत्कृष्ट है और जो हमारे हाथों की पहुँच में है,

केवल शब्दों की यवनिका हटाने भर की आवश्यकता है।[1] बर्कले के कथन में मुख्य बात प्रत्यक्ष–ज्ञान की है। दृश्य–संवेदना प्रत्यक्ष–ज्ञान का माध्यम है। मूर्त के अभाव में अमूर्त को समझा नहीं जा सकता। एक बार यदि किसी मूर्त का प्रत्यय आ जाए और फिर हम उस मूर्त की कल्पना उस मूर्त के अभाव में या अनुपस्थिति में कर सकें तो यह कल्पना मूर्त का अमूर्त अर्थ है। लोक में जितने पदार्थ, वस्तुएं, स्थान एवं प्राणी आदि हैं, उनकी हमें पहचान हो और हम उस पहचान को स्वतंत्र रूप दे सकें तथा एक से दूसरे को अलग कर सकें, यही नहीं, तुलना कर सकें, उनके गुण आदि से परिचित हो सकें तो हमारा ज्ञान बढ़ेगा। इस दृष्टि से मूर्त के हमें जो प्रत्यय होते हैं, उसके कुछ रूपों का विभाजन इस प्रकार किया जा जा सकता है :–

१. प्राकृतिक दृश्य
२. वस्तु या पदार्थ का बोध
३. प्राणियों का बोध
४. मनुष्य का बोध

इन चारों पर अलग–अलग रूप से नीचे विचार किया जा रहा है।

प्राकृतिक दृश्य

प्रकृति सत्य है। अतः प्राकृतिक दृश्यों का मन पर जो प्रभाव पड़ता है, वह सत्य की पहचान में सहायक होता है। हम आकाश को देखें, जलाशय को देखें, पर्वतमाला या कंदराओं को देखें, बरसती धारा को देखें या चटखती धूप का अवलोकन करें, गरज कि प्रकृति का कोई दृश्य हो, वह अपने आप में सत्य है। प्रकृति विराट् है, भव्य है, परिवर्तनशील है, पूर्ण है और सत्य है। इसीलिए प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करने से हमारे मन में जो संवेदना जागती है, वह (सतत अभ्यास से) आत्मा को बल प्रदान करती है। सच तो यह है कि चिंतकों ने, कवियों ने तथा ईश्वर के उपासकों ने प्रकृति में ही ईश्वर को अनुभव किया है और उन्हें ईश की प्राप्ति भी प्रकृति के भीतर हुई है।

मैं आंगन में खाट पर लेटा हुआ आकाश को निहार रहा था। रात के ग्यारह बजे होंगे। चारो ओर शान्ति थी। सड़क की बत्तियों का प्रकाश फैला हुआ था। अचानक बिजली ऑफ हो गई। चारों ओर अंधकार हो गया। अब मैंने अनुभव किया कि चाँदनी ने मन को आलोकित कर दिया। विराट् आकाश में चमकता चाँद प्यारा लगा और टिमटिमाते तारे मन को गुदगुदाने लगे।

मेरी आँखें ही तृप्त नहीं हुई, मन भी तृप्त हुआ। अचानक बिजली आ गई। सब बत्तियाँ लग गई। अभी-अभी मैं विराट् प्रकृति का अवलोकन कर रहा था, अब मैं फिर अपने सीमित घेरे में आ गया। स्थिति जैसे थे, हो गई। प्रकृति के विराट् एवं भव्य रूप का अवलोकन करने से जो संवेदना जागती है, वह यथार्थ की प्रतीति में सहायक सिद्ध होती है।

प्रकृति के प्रत्यय से जो बिम्ब मन पर उभरने लगते हैं, वे मनुष्य की संवेदन-क्षमता को बढ़ाते हैं। कवियों की संवेदन-क्षमता अधिक होती है। वाल्मीकि ने प्राकृतिक-दृश्य के अनेक बिम्ब-चित्र प्रस्तुत किए हैं। इन बिम्बों में भारत-भूमि के मनोरम रूप हैं। प्रकृति के माध्यम से विराट का बोध होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है– 'सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है।'[२] ये पंक्तियाँ शुक्लजी ने कविता में प्रकृति चित्रण के संदर्भ में लिखी हैं। मनुष्यत्व की साधना के लिए प्रकृति के साथ सहज सम्बन्ध आवश्यक है।

वस्तु या पदार्थ का बोध

वस्तु या पदार्थ, प्रकृति से भिन्न नहीं है किन्तु इनकी पहचान स्वतंत्र रूप से होती है। इसी नाते इन्हें अलग किया गया है। भाषा सीखते समय, वस्तुओं की पहचान के लिए वस्तु के नाम सीखना पड़ता है। आम (शब्द) कहने के साथ 'आम' (प्रत्यक्ष रूप में) सामने हो तो नाम के साथ अर्थ की प्रतीति हो जाती है। वस्तु या पदार्थ के सम्पर्क में आएँ, और साथ ही तत् तत् वस्तु या पदार्थ के लिए नामवाची शब्दों के रूप में उन उन की पहचान हो जाए तो वस्तुवाची शब्दों की सार्थकता का प्रत्यय होता है। हमें बहुत से पदार्थों के नाम ज्ञात हैं किन्तु हमने उन्हें देखा नहीं है। ठीक इसी तरह हमने बहुत से पदार्थों को देखा है किन्तु उनके नाम (भाषा में) ज्ञात नहीं है। नाम से परि-चित होना तथा उक्त रूप सामने होना, इससे जो दृश्य-संवेदना होगी, वह अर्थ-ग्रहण के साथ साथ बिम्ब-ग्रहण में सहायक होगी। वस्तुओं तथा पदार्थों के बिम्ब मन में बनने चाहिए। इस प्रकार के बिम्ब सतत साहचर्य के उपरान्त तत् तत् वस्तु या पदार्थ को देखने मात्र से अर्थ बोध के साथ साथ बिम्ब ग्रहण कराने के नाते हमारे मन में तत् तत् वस्तु या पदार्थ के प्रति संवेदन-क्षमता को बढ़ाते हैं।

इंद्रिय संवेदन के प्रत्यय हमें प्रकृति के नियमों से परिचित करते हैं। ये प्रत्यय कल्पना-जगत् के प्रत्ययों से भिन्न हैं। हम जिस रूप को देखते हैं, उस रूप का (चाहे वह किसी वस्तु या किसी पदार्थ का हो) अपने जीवन के लिए लाभार्थ उपयोग करना सीखते हैं। बर्कले का कहना यही है। वह लिखता है :– 'इंद्रिय संवेदन के प्रत्यय कल्पना के प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक सबल, सजीव तथा स्पष्ट होते हैं। उनमें उसी प्रकार अधिक स्थायित्व व्यवस्था तथा संगति है, तथा ये ऐसे ही अविहत रूप से बिना किसी क्रम के उद्दीप्त नहीं होते··· जैसा कि वे प्रत्यय होते है, जो मानवीय संकल्पों के कार्य होते हैं; प्रत्युत निरंतर क्रम अथवा शृंखला में प्रस्तुत होते हैं—जिसमें प्रशंसनीय परस्पर सम्बन्ध उनके प्रणेता की बुद्धिमत्ता तथा सहृदयता का पर्याप्त पुष्टीकरण होता है। अब ये निश्चित अधिनियम अथवा स्थापित विधियाँ, जिनमें मन, जिस पर हम निर्भर हैं, हमारे अन्दर इन्द्रियानुभूति के प्रत्यय उद्दीप्त करता है प्रकृति के नियम कहलाते हैं तथा हम उन्हें अनुभव से सीखते हैं। यहीं हमें सीखाता है कि वस्तुओं के सामान्य क्रम में अमुक प्रत्यय के साथ अमुक अमुक अन्य प्रत्यय आते है[¹]।' बर्कले के विचारों का खण्डन बाद में हुआ है किन्तु बर्कले की यह बात पूर्णतः सत्य है कि इन्द्रिय संवेदन प्रकृति के नियमों से परिचित कराने में सहायक है।

इन्द्रिय-संवेदन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह कल्पना में सहायक होता है। इससे समझ आती है और बाद में ये समझ ही विचारों में परिणत होती हैं। इन्द्रिय-संवेदन ज्ञान की आरम्भिक प्रक्रिया है। यह आरम्भिक प्रक्रिया होने पर भी समझ तथा विचारों में विकसित होने के उपरान्त अन्ततः ज्ञान का अनुभव है। बिम्बों के माध्यम से हमारा ज्ञान बढ़ता है तो हमारे विचार पुष्ट ही नहीं होते अपितु कल्पना में सहायक होने के नाते कल्पना-शक्ति को भी बढ़ाते हैं।

संवेदन से ज्ञान बढ़ता है और ज्ञान से बुद्धि का उदय होता है। वस्तु या पदार्थ का बोध साहचर्य के कारण बढ़ने लगे तो दृश्य–संवेदना के साथ साथ अन्य संवेदनाएं (स्पर्श, गंध आदि) भी होती हैं। यहाँ अन्य प्रकार के संवेदनात्मक ज्ञान की तुलना में देखने मात्र से (रूप के प्रति) जो ज्ञान होता है, उस पर विचार करना है। इस दृष्टि से रूप अस्तित्वद्योतक होने के नाते हम अन्य प्रकार के संवेदनात्मक ज्ञान को रूप के साथ जोड़कर देखने लगते हैं। बाद में साहचर्य के कारण रूप मात्र को देखकर संवेदना जाग जाती है।

वस्तु या पदार्थ में जो गुण पाए जाते हैं, उनका परिचय धीरे धीरे संवेदनात्मक ज्ञान के कारण होने लगता है। ये गुण अमूर्त होते हैं। वस्तु या पदार्थ में ये

मूत होते हैं। हम फिर वस्तु या पदार्थ को देखकर उन अमूर्त गुणों के साथ तत् तत् वस्तु या पदार्थ के साथ संबंध जोड़ने लगते हैं।

वस्तु या पदार्थ का रूप सामान्यतः प्राकृतिक स्थितियों पर निर्भर रहता है। भौतिक विज्ञान के अंतर्गत प्राकृतिक स्थितियों पर विचार किया जाता है और रसायन विज्ञान के अंतर्गत वस्तु या पदार्थ के बदलते रूपों, उनके गुणों और कारणों आदि पर विचार किया जाता है। इस विस्तार में यहाँ नहीं जाना है। सरल शब्दों में यह कहना है कि वस्तु या पदार्थ का सामान्य रूप (सामान्य प्राकृतिक स्थिति में) जिसे हम देखते हैं, देखने के साथ हमारे मन में किस प्रकार की संवेदना जाग्रत करते हैं? सामान्यतः वस्तु या पदार्थ का गुणात्मक बोध हो जानेपर हम वस्तु या पदार्थ के रूप के साथ तत् तत् गुणों का अनिवार्य सम्बन्ध मान लेते हैं और रूप के अवलोकन के बाद ही उन गुणों की संवेदना हम में जाग जाती है।

प्राणियों का बोध

वस्तु या पदार्थ स्वयं संवेदनशील नहीं है किंतु प्राणियों में संवेदन-क्षमता है। यह ठीक है कि प्राणियों की संवेदन-क्षमता मनुष्य के समान नहीं है फिर भी उनमें संवेदना नहीं होती, ऐसा नहीं कह सकते। वनस्पतियों में संवेदन-क्षमता दिखलाई गई है, तो प्राणियों में तो वह वर्तमान है ही। प्राणियों को देखकर हमारे मन में जो संवेदना जागती है वह निश्चित ही वस्तु या पदार्थ की संवेदना से भिन्न है। बात यह है कि संवेदनशील प्राणियों के रूप सजीव एवं चेतन हैं। बहुत से प्राणियों के साथ मनुष्य का सीधा संपर्क है और जिनके साथ नहीं है, उनके साथ भी सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास मनुष्य ने किया है। प्राणियों में जातिवर्ग आदि हैं और इन सब का अध्ययन प्राणिशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है। सामान्य रूप में प्राणियों को देखकर संवेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है। अर्थात प्राणियों को देखने से हमारे मनोभावों में अंतर आता है। रूप के अतिरिक्त रूप में ही व्यक्त (प्राणी के अपने संवेदनात्मक ज्ञान के कारण) संवेदनशीलता हमारे मन में प्रतिक्रियात्मक संवेदना ही जगाते हैं। जड़ पदार्थ अजनबी होने या अपरिचित रहने पर अपने स्थान पर स्थिर रहने के कारण (सामने उपस्थित होने पर भी) हममें किसी प्रकार की संवेदना नहीं जगाएँगे। जड़-पदार्थ संवेदना-शून्य होते हैं। किंतु कोई प्राणी अजनबी या अपरिचित होने पर भी यदि सामने उपस्थित हो तो उसको देखकर संवेदना जागेगी। गति और हलचल से हम प्रभावित होते हैं। इन प्राणियों से जो संवेदना जागेगी,

उसमें प्राणियों की पशु-प्रकृति का प्रभाव रहेगा। यह पशु-स्वभाव या पशु-प्रकृति प्राणी के रूप में व्यक्त होती रहती है और इसे धीरे धीरे साहचर्य के आधार पर पहचाना जा सकता है।

मनुष्य का बोध

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और मनुष्यों के बीच ही रहकर उसे मनुष्यत्व की साधना करनी है। मनुष्य को देखकर मनुष्य के मन में जो संवेदना जगती है, वह संवेदना विविध-स्तरीय है एवं उसमें प्रतिक्रियात्मक रूप भी हैं। इस संवेदना में मानवीय तत्त्व एवं पशु तत्त्व दोनों कार्य करते हैं। हम चाहते हैं कि पशु तत्त्व का ह्रास हो एवं मानवीय तत्त्व प्रबल हो। मनुष्येतर प्राणियों में पशु-तत्त्व प्रबल रहता है। मनुष्य भी प्राणी होने के नाते पशु-तत्त्वों से मुक्त नहीं है। किंतु पशु-तत्त्व पर विजय प्राप्त कर वह मानवीय-तत्त्वों से सम्पन्न हो सकता है। मनुष्य का सब से बड़ा मित्र मनुष्य है और मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु भी मनुष्य ही है। वह मित्र बनकर रहे या शत्रु बनकर रहे, निर्णय मनुष्य को ही करना है। मनुष्य के भीतर जो कुछ घटित होता रहता है, उसकी झलक उसके रूप को (शरीर को) देखकर हो जाती है। एक ही मनुष्य अलग-अलग मानसिक स्थितियों में अलग-अलग रूप में दिखलाई दे सकता है और उसे देखने से देखनेवाले के मन में अलग-अलग रूपों के अनुसार अलग-अलग प्रकार की संवेदना जग सकती हैं। इस दृष्टि से बदलते मनुष्य के रूपों की वैज्ञानिक व्याख्या स्पिनोजा ने अपमे 'नीति' नामक ग्रंथ में की है। स्पिनोजा उद्वेगों को अशरीरी नहीं मानता। उसने लिखा है :– 'उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है, जिनसे शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ ही इन रूपभेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं।'[४] और भी लिखा है :– 'हमारा मन कुछ क्रियाएँ करता है और कुछ क्रियाएँ इस पर होती हैं। अर्थात् जिस हद तक यह पर्याप्त प्रत्ययों से सम्पन्न होता है, उस हद तक यह अवश्यमेव कुछ क्रियाएँ करता है, और जिस हद तक इसके प्रत्यय अपर्याप्त होते हैं, उस हद तक अनिवार्य रूप में इस पर कुछ क्रियाएें होती हैं।'[५] स्पिनोजा ने मनुष्य-बोध के अमूर्त रूपों को मूर्त रूपों में प्रस्तुत किया है। उसने ईश्वर-बोध भी रूप के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अपने ग्रंथ में उसने ईश्वर के विषय में एक पूरा अध्याय लिखा है। उसका कहना है कि मनुष्य चिन्तन करता है और चिन्तन के भी आकार होते हैं। हमारे देखने में जितने रूप हैं, वे सब या तो भौतिक पदार्थ हैं या चिन्तन के आकार हैं। इनके अतिरिक्त हम न तो किसी को अनुभव करते हैं और न ही देख सकते हैं।

प्राकृतिक दृश्य हो, वस्तु या पदार्थ हो, प्राणि हो या मनुष्य हो सब के रूप हैं। ये सभी मूर्त है। इन सब रूपों का बोध हमारी दृष्टि को होता हैं। इन सब को देखने से दृश्य-संवेदना होती है। ज्ञान का यह प्रत्यक्ष माध्यम है।

दृश्य-संवेदना कल्पना में सहायक होती है। हम किसी रूप को देखते समय उस रूप का सामने वाला भाग ही हमें दिखलाई देगा किन्तु अनुभव के आधार पर एवं अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर हम उस रूप को भी देखना सीख जाते हैं, जो आँख के सामने नहीं है। इस प्रकार से देखना कल्पना-शक्ति के बल पर देखना है। भौतिक पदार्थों के जिन रूपों को हम देखते है, उनका हम वस्तुतः एक ही परिप्रेक्ष्य (जो दृष्टि-पटल के सामने है) देखते है किन्तु अनुभव के आधार पर एव कल्पना-शक्ति के बल से अन्य परिप्रेक्ष्यों को भी देखना सीख जाते हैं। यों कहिए कि अन्य परिप्रेक्ष्यों को कल्पना के बल पर पहचान कर (देख कर) उन सब के प्रति संवेदनशील हो जाते हैं।

रूप के जो बिम्ब मन में उतरते हैं, उभरते हैं, या बनते हैं, उनमें संवेदना और कल्पना दोनों का योगदान रहता है। जो जितना संवेदनशील होगा, उसकी कल्पना-शक्ति भी उतनी ही प्रखर होगी। हम चाहते हैं कि जिन रूपों का हम अवलोकन करते हैं, उन्हें अभिव्यक्त करें। भाषा एवं कलाओं में हम अपने प्रत्ययों कों ही अभिव्यक्त करते हैं।

किसी रूप का प्रत्यय हमें हुआ है, इसका प्रमाण यह है कि हम उस रूप को भाषा या कला में व्यक्त करने में समर्थ है। इन रूपों का गुणात्मक मूल्यांकन सौंदर्यशास्त्र का विषय है।

संदर्भ

१. मानवीय ज्ञान के सिद्धांत, जार्ज बर्कले, अनुवादक : भगवानबख्शसिंह पृ. १०६।
२. चिन्तामणी भाग १—आचार्य रामचंद्र शुक्ल (१९६२ ई. वाला संस्करण) पृ. १५१।
३. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, जार्ज बर्कले, अनुवादक : भगवानबख्श सिंह, पृ. १२२।
४. नीति, स्पिनोजा, अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द, पृ. १०६।
५. —वही— पृ. १०६।

○ ○

गंध

गंध की संवेदना नाक से होती है। इस दृष्टि से संवेदन का यह भाग वातावरण में व्याप्त प्रभाव हवा के माध्यम से ग्रहण करता है। पशुओं में गंध की संवेदना मनुष्य से अधिक पाई जाती है। गंध प्रायः उद्दीपक संवेदना होती है। इसके आधार पर भाव तथा विचार स्थिर होते हैं, बल ग्रहण करते हैं या मंद होने लगते हैं। जिनकी गंध संवेदना अधिक समर्थ होती है, उनकी पहचान–क्षमता अधिक होती है। वैसे हम आँख से देखकर पहचान लेते हैं किन्तु गंध के माध्यम से बिना आँख से देखे, हवा में व्याप्त प्रभाव के आधार पर गंध से सम्बन्धित पदार्थ या वस्तु को पहचान लेते हैं।

गंध का सम्बन्ध विशेष रूप से रासायनिक द्रव्यों से है। विशेष रूप से जो चेतन है या जीवधारी हैं, उन सब की गंध होती है। जितने जीवधारी हैं, उन सब की भोजन की जो सामग्री है, उस सामग्री की भी गंध होती है। यों तो सब की अपनी-अपनी गंध हो सकती है किन्तु प्रकृति में कुछ ऐसे रूप भी हैं, जिनकी अपनी कोई गंध नहीं है। पानी का जैसे कोई रंग नहीं होता, वैसे ही पानी की गंध भी नहीं होती। यदि पानी में गंध का आभास हो या

प्रत्यय हो तो उसमें किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण मानना चाहिए। इस तरह गंध के आधार पर प्रकृति में विद्यमान सब पदार्थों, वस्तुओं, प्राणियों तथा मनुष्यों आदि का दो भागों में विभाजन किया जा सकता है। गंध से युक्त एक वर्ग और गंध से रहित दूसरा वर्ग। जो वर्ग गंधहीन है या गंध से रहित है या जिनकी अपनी कोई गंध नहीं है, वे गंध से युक्त पदार्थों से प्रभावित होकर गंध युक्त हो सकते हैं। कहना यह है कि गंधहीन पदार्थ गंधयुक्त पदार्थों से प्रभावित होते हैं और गंध युक्त हो जाते हैं। मान लीजिए हम रुई लें, जिसकी कोई गंध नहीं है। अब इस रुई को इत्र में भिगोएँ। अब यह रुई गंधयुक्त हो जाएगी और उस रुई से उस इत्र की गंध आएगी। गंध संवेदना पर विचार करते समय हमारा ध्यान विशेष रूप से उन पदार्थों, वस्तुओं या उन जीव-धारियों की ओर जाता है, जिनकी अपनी गंध होती है। ये गंधधारी वाता-वरण को गंध से युक्त बनाते हैं। यहाँ वातावरण हम उसे कहेंगे, जहाँ तक गंध व्याप्त होती है। गंध, गंधहीन क्षेत्र में ही व्याप्त हो सकती है। यदि किसी स्थान पर हमें किसी गंध का बोध होता है, तो हम गंध के सहारे पता लगा सकते हैं कि गंध का स्रोत कहाँ है या यह गंध कहाँ से फैली? गंध को फैलाने में हवा सब से अधिक सहायक होती है। जैसे ध्वनि के उच्चारण तथा श्रवण दोनों में हवा का योगदान होता है, उसी तरह गंध के फैलाने में हवा का योगदान सब से अधिक होता है। हवा वैसे गंधहीन होती है किन्तु इसमें गंध के समाने की शक्ति सब से अधिक होती है। इसी तरह तरल पदार्थों में पानी की अपनी गंध नहीं होती। अतः गंधहीन पानी जिन द्रव्यों को अपने में आत्मसात् कर लेता है, वह उन्हीं की गंध देने लगता है। संक्षेप में गंध पदार्थ या वस्तु का विशेष गुणधर्म है, जो पदार्थ या वस्तु को व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हैं। अर्थात् गंधयुक्त पदार्थ अपने भौतिक अस्तित्व के क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र में अपने प्रभाव को (गंध को) फैलाते हैं। गंध के माध्यम से पदार्थ या वस्तु के रासायनिक गुणधर्म ही व्याप्त होते हैं। जिसे हम गंध कहते हैं, वह पदार्थ या वस्तु की रासायनिक प्रक्रिया का वह भाग है, जो क्रियाशील है। यह क्रिया-शीलता ऐसी है, जो व्यापक है। गंध की संवेदना बड़ी सूक्ष्म होती है और इसका प्रभाव रासायनिक होता है। गंध की अनुभूति एक अर्थ में रासायनिक अनुभूति ही होती है। गंध का भौतिक आधार स्थापित करने का प्रयास वैज्ञा-निकों ने किया है किन्तु इस में सफलता नहीं मिली। इस विषय में जो प्रयास हुए, उसका विवरण हेवलॉक एलिस ने दिया है। वह लिखता है :— 'व्याव-हारिक जीवन तथा भाव–जीवन में कला तथा विज्ञान में साधारण परिस्थि-तियों में गंध अधिक से अधिक एक सहायक अनुभूति–मात्र है और इस सम्बन्ध

में अध्ययन करना तब तक बेकार समझा जाने लगा जब तक कि यूट्रेक्ट के ज्वार्देमाकेर ने १८८८ में गंध—मापक का आविष्कार किया तथा बाद को गान्धिक शरीरशास्त्र पर अपना ग्रंथ प्रकाशित नहीं किया। कुछ साल बाद ब्रूसेल्स के हेईनिक्स ने गंध विषय को और विकसित किया और उन्होंने यह कोशिश की कि गंध को पूर्ण रूप से भौतिक आधार पर स्थापित करें। उन्होंने गंध के लिए स्पेक्ट्रम या रश्मि—विश्लेषण की स्थापना की और एक वर्गीकरण तैयार किया जो तरंग की दीर्घता-सम्बन्धी भेद-विषयक था। इस प्रकार से रासायनिक शक्ति के द्वारा नहीं बल्कि पारमाणविक स्पन्दन प्रक्रिया के द्वारा गंध अपने मार्ग को क्रियाशील बनाती है पर जी. एच. पार्कर की तरह अन्य विद्वान गंध को रासायनिक अनुभूतियों में मुख्य स्थान देकर ही खुश हैं। 'रासायनिक' अनुभूतियों के अलावा 'यांत्रिक' अनुभूतियाँ हैं, जो दबाव या शब्द या आलोक से उत्तेजित होती हैं। रासायनिक अनुभूतियाँ आदिम जल—जीवन से चली आ रही हैं और यद्यपि उनमें गंध की प्रधानता है, फिर भी उनमें स्वाद आ जाता है। यह स्वाद जाकोबसन के नाम पर प्रचलित इन्द्रिय से होकर आता है। यह इन्द्रिय नाक में खुलती है। इसके अलावा यांत्रिक अनुभूति में एक साधारण रासायनिक अनुभूति आती है। इतना सब कह लेने पर भी यह मुश्किल से कहा जा सकता है कि हम इनमें से किसी विषय पर निश्चित उपसंहारों में पहुँचे हैं।'[1] इस सारे विवेचन के आधार पर प्रस्तुत में हम जिस स्थिति को स्वीकार कर सकते हैं, वह यह है कि गंध रासायनिक अनुभूति है और इसका प्रभाव मनुष्य के मन पर रासायनिक रूप में पड़ता है। गंध का सम्बन्ध शरीर में वर्तमान स्नायविक पद्धति से है।

महक में उत्तेजना होती है। इससे बल में वृद्धि होती है और क्रियाशक्ति में गति आती है। यह सब होने पर भी महकों का प्रभाव स्थायी नहीं रहता। जब तक हम महक के नशे में रहते हैं, तब तक ही यह असर रहता है। नशा उतरने पर स्थिति जैसे थी हो जाती है। महक के साथ स्वाद की संवेदना जुड़ी हुई है। हम भोजनशाला में प्रवेश करें, तो व्यंजनों की गंध आती है और गंध के कारण सम्बन्धित व्यंजन के स्वाद का बोध भी हमें होता है। गंध के माध्यम से जो स्वाद का बोध होता है, इस बोध में उद्दीपन-शक्ति होती है। हमारा रुचि-बोध जाग्रत हो जाता है और स्वाद की तृप्ति के लिए हम प्रयत्नशील हो जाते हैं। यदि भूख शांत भी हो जाए तब भी गंध का असर बना रहता है। गंध से स्वाद की संवेदना जाग्रत होती है, तृप्त होती है तथा तृप्ति के बाद भी गंध का प्रभाव देर तक स्नायविक पद्धति पर बना रहता है। गंध

के अभाव में तृप्ति का पूर्ण बोध नहीं होता।

गंध, रासायनिक अनुभूति है, अतः उन वस्तुओं पदार्थों या रूपों में गंध की मात्रा अधिक होगी, जिनमें रासायनिक क्रिया अधिक गतिशील होगी। सभी जीवधारी जन्म लेते हैं, वृद्धि पाते हैं और उनकी मृत्यु होती है। जन्म से मृत्यु तक के काल में शरीर के लिए (चाहे वह किसी जीव का हो) भोजन आवश्यक है। प्रत्येक जीवधारी के शरीर में रसायनशाला है, जिसमें भोजन की सामग्री पहुँचती है और रासायनिक क्रिया के उपरान्त उससे शरीर का पोषण होता है। इस नाते प्रत्येक जीवधारी की गंध होती ही है। हमारी नाक इतनी संवेदनशील नहीं है कि हम अलग अलग प्राणियों की गंध को पहचान लें। किंतु पशु इस दृष्टि से अधिक संवेदनशील होते हैं। विशेष रूप से वे पशु जो अन्य जीवों का भक्षण करते हैं, या मांसाहारी हैं, उनकी गंध संवेदना अधिक तीव्र होती है। पशु अपने शिकार की गंध तुरत पा जाते हैं और गंध के सहारे शिकार खोजने लगते हैं। कुत्ते मनुष्य की गंध को पहचानते हैं। गंध के सहारे से कुत्ते मनुष्य विशेष को पकड़ने में सहायता पहुँचाते हैं। सूंघकर कुत्ते अपने मालिक को पहचान लेते हैं। पशुओं में एक दूसरे को सूंघना (एक ही वर्ग के पशुओं में) सहज भाव से चलता रहता है। पशु अपने बच्चों को सूंघते तथा चाटते हैं। सूंघने में स्नेह भाव का आदान-प्रदान होता है। वाल्मीकि रामायण में राजा दशरथ अपने पुत्र राम के प्रति स्नेह व्यक्त करने के लिए पुत्र को गले से लगाते हैं और मस्तक सूँघते हैं। इस सूँघने में दशरथ का पुत्र-स्नेह व्यक्त हुआ है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

> रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम्।
> बाहुभ्यां संपरिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय राघवम्।४।
>
> सप्तसप्ततमः सर्गः, बालकाण्डः

कहना यह है कि सूँघने की प्रथा पशुओं में ही नहीं, मनुष्यो में भी पाई जाती थी। पशुओं में सूँघनेवाली प्रवृत्ति को प्रथा न कह कर उनकी प्रकृति कहना चाहिए किन्तु मानव सभ्यता के इतिहास में भी सूँघने की प्रथा के उदाहरण मिल जाते हैं। इसमें हम आदिम सभ्यता का रूप देखते हैं। वैसे सूंघनेवाली प्रथा कहीं-कहीं आज भी समाज में प्रचलित है। अभिवादन में, स्नेह के आदान-प्रदान में, मिलने में सूंघने के उदाहरण आज भी दिखलाई दे सकते हैं। इस सूँघने में गंध संवेदना का अनुभव होता है और यह अनुभव रासायनिक है। जीवधारी भी जब स्वस्थ तथा अपनी उन्नत अवस्था में होते हैं, तो उनमें से

जीव-विशेष की गंध आने पर भी, उनके अपने यौवन की गंध भी उनसे आती है। यौवन की गंध से युक्त होने पर जीव विशेष में उसके अपने जीवन का उल्लास, आवेग तथा उत्साह व्यक्त होने लगता है। यौन-मनोविज्ञान की दृष्टि से गंध जीवधारियों में आकर्षण तथा उद्दीपन की वस्तु है। शरीर की गंध तथा यौवन विशेष की गंध के सम्बन्ध में हेवलॉक एलिस ने ही लिखा है – 'हमारे पूर्वपुरुषों ने शारीरिक महकों के साथ यौन आवेगों के सम्बद्ध होने की बात जान ली थी और आज भी उसके साथ यौन वृत्ति के सम्बन्ध का होना मालूम है। इन दोनों क्षेत्रों के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, जैसा कि हिपोक्रिटस ने बहुत पहले ही जान लिया था, यौवनारम्भ के बाद ही शारीरिक महक में वयस्कता प्राप्ति की विशेषता आती है। बच्चा, बालिग व्यक्ति, बूढ़ा सब की अपनी-अपनी विशेष महक होती है और जैसा कि मोनिन ने बताया है कि कुछ दायरों के अन्दर किसी व्यक्ति की शारीरिक महक से उसकी उम्र जानना सम्भव हो सकता है। पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों में यौवनारम्भ, किशोरावस्था तथा प्रथम यौवन में चर्म तथा शरीर से निकलने-वाली विभिन्न वस्तुओं जैसे मल मूत्र, पसीना आदि की बू का क्रमिक विकास होता है जो बाल तथा शारीरिक रंग रूपी गौण यौन विकास के साथ सामं-जस्य रखता है। वेन्तुरी ने तो यहाँ तक कहा है कि शारीरिक महक दोयम दर्जे की यौन विशेषता है।'[२] संक्षेप में जीवधारियों से जो गंध आती है, वह अवस्था के अनुसार बदलती रहती है और इन बदलती गंधों में यौवन की गंध का अपना विशेष महत्त्व है।

गंध का सम्बन्ध स्नायविक पद्धति से है। शरीर की अपनी गंध होने पर भी शरीर पर अन्य गंधों का प्रभाव पड़ता है। गंधों का यह मिश्रण रासायनिक होता हे। परिणाम यह होता है कि गंध के कारण—यदि गंध तीव्र तथा मादक हो तो—शरीर में उत्तेजना का संचार होता है। यह उत्तेजना शारीरिक होती है। गंध कोई भी हो उसका रासायनिक असर होता ही है किन्तु इन गंधों में भी कुछ गंधें इस प्रकार की होती हैं, जो हमारी चेतना को प्रभावित करती है। कुछ गंध इस प्रकार की पाई जाती हैं, जिनके सूँघने से चेतना सुप्त हो सकती है। गंध का असर समाप्त होने पर हमारी चेतना लौट सकती है। जो मादक गंधों का सेवन करते हें, उन्हें मादकता का शिकार होना पड़ता है। यथार्थ जगत् के दुःखों को भूलने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन किया जाता है। ऐसा वे लोग करते हैं, जो श्रम का तथा दुःख का परिहार चाहते हैं। अल्प मात्रा में, आवश्यकतानुसार उत्तेजक गंधों का सेवन किया जाय तो इससे

ताजगी मिलती है, श्रम का परिहार होता है तथा बल में वृद्धि भी होती है। एक प्रकार से गंध, अपने आप में संवेदना होने पर भी उपभोग का उन्नत तथा विकसित रूप है। जो गंध में रुचि लेते है, गंध की पहचान करते हैं, यही नहीं तदनुसार खाद्य तथा पेय पदार्थों का या दूसरे शब्दों में आहार का उपयोग करते है, उनकी अभिरुचियों को विकसित मानना चाहिए। गंध के कारण रस की (आस्वादन की) संवेदना को बल मिलता है। रस, जो वस्तुतः उपभोग का मुख्य भाग है और जिसका सम्बन्ध जिह्वा से बना हुआ है, गंध के आधार पर स्वतंत्र पहचान बना लेता है। यों कहना चाहिए कि जो लोग गंध से परिचित होते हैं, वे रस की पहचान कर लेते हैं तथा उसको स्वतंत्र रूप में निर्देशित करना सीख जाते हैं; केवल सूँघकर ही रस के सम्बन्ध में (बिना चखे ही) ठीक निर्णय देने में समर्थ हो जाते हैं। एक अर्थ में गंध संवेदना, रस संवेदना के निर्णय में सहायता पहुँचाती है।

गंध बहुत सूक्ष्म होती है। गंध का अनुभव हम नाक से करते हैं। यह अनुभव साँस (श्वास) के साथ होता है। श्वास लेने में हवा का उपयोग होता है। जब हम साँस लेते हैं तो बाहर की (वातावरण में व्याप्त) हवा भीतर जाती है। इस हवा के साथ ही वातावरण में व्याप्त गंध हमारे नाक में पहुँचती हैं। वातावरण में जो रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं, उन्हीं की गंध हवा के माध्यम से हमारे साँसों में समाकर हम पर उस रासायनिक क्रिया का प्रभाव डालती है। गंध को सूक्ष्म कहने का कारण यह है कि हम गंध-मात्र के भौतिक अस्तित्व को नहीं देख सकते। वस्तुतः गंध का भौतिक अस्तित्व (सम्बन्धित वस्तु या पदार्थ से हटकर या अलग रूप से) होता है या नहीं, यह वैज्ञानिकों के अध्ययन का विषय है। रासायनिक रूप में गंध को स्वीकार करते हुए भी उसकी (गंध की) सूक्ष्मता को स्वीकार करना ही पड़ता है। बात यह है कि हवा के माध्यम से गंध दूर तक पहुँचती है। इस गंध के साथ गंध से सम्बन्धित वस्तु या पदार्थ के रासायनिक गुणधर्म दूर तक पहुँच जाते हैं। जिस किसी की गंध फैलती है, गंध फैलने के कारण उनके भौतिक अस्तित्व में कमी होती ही होगी। कपूर, जो सुगंधित होता है, हवा में रखा जाए तो गंध फैलने के कारण वह लुप्त होने लगता है और बाद में गायब हो जाता है। उसका भौतिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस अर्थ में कपूर को हम गंध के भौतिक अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। रासायनिक प्रक्रिया के बाद कपूर का भौतिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह गंध-मात्र रूप फैल कर रासायनिक गुणधर्म के रूप में शेष रह जाता है। गंध से सम्बन्धित पदार्थों को,

यदि उनकी गंध को उनमें सुरक्षित रखना है, तो उन्हें हवा से बचाए रखना पड़ेगा। हवा का स्पर्श होते ही गंध को फैलने से रोका नहीं जा सकता। इत्र एवं अन्य सुगन्धित पदार्थों को जिनका उपयोग गंध के लिए ही किया जाता है, हवा से बचाना पड़ता है। गंध की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि वह हवा में व्याप्त रासायनिक गुणधर्म है, जिसका बोध संवेदना के रूप में नाक को होता है।

गंध का सम्बन्ध वातावरण से है। निश्चित ही यह वातावरण हवा से आपूरित है। गंध के अनेक रूप होने पर भी जो गंध रुचिकर हो, उसे सुगंध तथा जो गंध रुचिकर न हो, उसे दुर्गन्ध कहते हैं। दूषित गंधों से हम बचना चाहते हैं। हम जहाँ कहीं रहते हों, हमारे आसपास में हवा व्याप्त होगी ही। उस हवा में दुर्गन्ध व्याप्त हो तो जीवन कठिन हो जाएगा। दुर्गन्ध से हम तुरत भागना चाहते है। जब भाग नहीं सकते तो तात्कालिक बचाव के लिए नाक बन्द कर लेते है। हम दुर्गन्ध से बचने के लिए तुरत उपाय करते ही हैं। एक अर्थ में गंध के आधार पर वातावरण की पहचान होती है। वातावरण को शुद्ध रखने के लिए अर्थात् गंध-मुक्त रखने के लिए हम उन पदार्थों या वस्तुओं को हटाते हैं, जिनसे दुर्गंध फैलती रहती है। सुगंध हो या दुर्गंध हो दोनों ही वातावरण को प्रभावित करते हैं और हम वातावरण में रहने के कारण हम पर उसका असर पड़ता ही है। जैसे गंध से (सुगंध से) शरीर को उत्तेजना प्राप्त होती है, बल में वृद्धि होती है और कर्म-शक्ति बढ़ती है; ठीक उसी तरह दुर्गंध के विपरीत परिणाम स्वास्थ्य पर पड़ते है। दुर्गंध के कारण बीमारियाँ फैलती हैं, उत्साह में कमी आती है, कर्मशक्ति घटती है, मन अप्रसन्न रहता है और सब से बढ़कर हम मृत्यु के निकट पहुँचने लगते हैं। शहरों में जनसंख्या के बढ़ने के कारण, शहर को साफ रखना आज बहुत आवश्यक हो गया है। ल्यूइस ममफोर्ड ने 'शहरों की संस्कृति' एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के तीसरे अध्याय का शीर्षक 'चेतनाशून्य औद्योगिक नगर' है। इस अध्याय में शहरों में रहनेवाले नागरिकों को जिस परिवेश या वातावरण का सामना करना पड़ता है, उसका विस्तार से तथ्यमूलक विवेचन है। इस विवेचन से मुख्य बात जो सामने आती है, वह यह है कि वातावरण को गंदगी से मुक्त रखने के लिए प्रयास न हों तो गंदगी का प्रभाव जनजीवन के स्वास्थ्य पर पड़ता है। औद्योगिक नगर को चेतनाशून्य कहने का कारण यह है कि वहाँ का वातावरण नगर को चेतना-शून्य कर देता है। यदि वातावरण अनुकूल न हो तो हम चेतनाशून्य हो जाते हैं। गंध, ऐसी संवेदना है, जिसका भला-बुरा प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। रस

की संवेदना चखने पर ही होगी। किंतु गंध की संवेदना वातावरण में उपस्थित रहने मात्र से हो जाएगी। रस के साथ चखने की शर्त जुड़ी हुई है किंतु गंध के लिए, इतना ही काफी है कि आप वातावरण में उपस्थित हैं। गंध में जितना आकर्षण होता है, उतना विकर्षण भी होता है। जैसे कि कहते हैं—मैं तो उसकी गंध से ही भागता हूँ, छूने की बात दूर रही। जो गंध अरुचिकर होती है, हम उस गंध से सम्बन्धित भाग को छूना नहीं चाहते। जिसे हम छूते नहीं, उसके चखने की बात बहुत दूर रह जाती है। गंध का आकर्षण हो, या विकर्षण दोनों ही तीव्र होते हैं और उनका प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है।

गंध के साथ चेतना जुड़ी हुई है। चेतना का अर्थ सजगता तथा जीवन लेना चाहिए। गंध, छिपाने से छिपती नहीं है। दुर्गंध को छिपाने के लिए सुगंधित आवरण से दुर्गंध को दबाने का या छिपाने का प्रयास किया जाता है किंतु यह तात्कालिक बचाव है। कहा है 'राखो मेलि कपूर में हींग न होय सुगंध' अर्थात् हींग को कपूर में रखने से हींग सुगंधित नहीं होती। जिसकी जो गंध होती है, वह जाती नहीं है और उसका प्राकृतिक प्रभाव बना रहता है। जब हम कहते हैं कि गंध का सम्बन्ध चेतना से है, तो इसका आशय यह है कि गंध संवेदना का प्रभाव शरीर पर रासायनिक असर डालता है और इस रासायनिक असर से चेतना प्रभावित होती है। चेतना प्रभावित होती है अर्थात् स्नायविक मंडल पर असर पड़ता है। इस स्नायविक मंडल से हमारे ज्ञानतंतुओं का सम्बन्ध बना रहता है। संवेदना के माध्यम से हमें ज्ञान होता है किंतु हमारी संवेदनाएँ चेतना के अभाव में कार्य नहीं कर सकती। शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गंध इन सब में चेतना का सम्बन्ध गंध से ही अधिक है। वातावरण का सीधा प्रभाव बिना प्रयास के (उपस्थिति मात्र से) गंध-संवेदना के रूप में पड़ता है। अन्य संवेदनाएँ, इससे प्रभावित होती हैं। हमारी चेतना में अन्य संवेदनाएँ बाद में आती हैं। गंध का असर तेज हो तो अन्य संवेदनाएँ सुप्त हो सकती हैं। गंध के कारण यदि बेहोशी आ जाए अर्थात् चेतना जाती रहे तो अन्य ज्ञानेंद्रियाँ ठीक ढंग से कार्य नहीं करती। इसी तरह यह भी संभव है कि गंध के प्रभाव से अन्य ज्ञानेंद्रियों को उत्तेजना प्राप्त होती है और वे अधिक क्षमता के साथ कार्य करने लगती है। तात्पर्य यह है कि गंध का प्रभाव रासायनिक अनुभूति के रूप में होने के कारण इससे चेतना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना रहता है और इससे अन्य ज्ञानेंद्रियाँ प्रभावित होती रहती हैं।

गंध का सम्बन्ध चेतना से जुड़ा होने के कारण इससे हमारा भावमय जगत् तथा बौद्धिक जगत् दोनों ही तीव्र रूप में प्रभावित होते हैं। महक के कारण हमारी सुप्त इच्छाएँ जाग जाती हैं और हम भावप्रवण हो जाते हैं। फिर यह भावना हमारी बुद्धि को प्रभावित करती हैं। होता यह है कि गंध के कारण अन्य ज्ञानेंद्रियाँ गंध के समर्थन में भावमय जगत् के समर्थन में कार्य करने लगती हैं। ऐसी स्थिति में हमारी इच्छा-शक्ति हमारी अपनी बुद्धि का लाभ उठाती है। ऐसे समय में अन्य ज्ञानेंद्रियाँ यदि प्रबल रहें तो हम भावमय जगत् पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। किंतु प्रायः अनुभव यह कहता है कि मनुष्य इंद्रियों का दास है। हम इच्छा-शक्ति से अधिक प्रभावित रहते हैं। गंध के कारण यदि हम भावमय जगत् पर विजय प्राप्त कर बौद्धिक जगत् में प्रवेश कर जाएँ तो गन्ध के माध्यम से हमें जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान बौद्धिक जगत् को अधिक समर्थ बनाएगा। हम चाहते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हमारी बौद्धिक-क्षमता को बढ़ाएँ।

संवेदनों के आधार पर मन में बाह्य जगत् के प्रत्यय बनते है और इन प्रत्ययों से हमारा ज्ञान बढ़ता है। संवेदनों का सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियाँ हमारे भावजगत् को (उद्वेगों को) अधिक प्रभावित करती हैं अतः हम सुख-प्रद संवेदनाओं को चाहने लगते हैं और दुःखप्रद संवेदनाओं से बचने का प्रयास करते हैं। एक अर्थ में हम उद्वेगों के दास हो जाते हैं। इस दासता से मुक्ति पाकर ही हम अपने प्रत्ययों का ज्ञानरूप में उपयोग कर सकते हैं। उद्वेगों की दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उद्वेगों का बोध होना आवश्यक है। स्पिनोजा का कहना है कि "जो मनुष्य अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, वह आनन्द अनुभव करता है और इसके साथ ही ईश्वर का प्रत्यय भी होता है और जितना अधिक वह अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, उतना ही अधिक उसका ईश्वर प्रेम होता है।"[३] अर्थात् जिस पर हम विजय प्राप्त करना चाहते हैं, उसको पहचानना आवश्यक है। ज्ञान का आनन्द प्राप्त करना हो तो ज्ञान का शुद्ध बोध होना आवश्यक है। यह ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों से ही प्राप्त हो सकता है। इन्द्रिय-संवेदनों से ज्ञान प्राप्त कर इन्द्रियों से तटस्थ रहकर ज्ञान का विश्लेषण करने से ही (अपने आपको पहचानने से ही) संवेदनों को शुद्ध ज्ञान की कोटि में बदला जा सकेगा। संवेदनों से प्रत्यय बनते हैं, अतः संवेदनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके सहयोग से ही हम अपना विश्लेषण ठीक ठीक कर सकने में समर्थ हो सकते हैं।

संदर्भ

१. यौन मनोविज्ञान, हेवलॉक एलिस, अनुवादक : मन्मनाथ गुप्त, पृ. ६०

२. यौन मनोबिज्ञान, हेवलॉक एलिस, अनुवादक : मन्मथनाथ गुप्त, पृ. ६१-६२

३. नीति, स्पिनोजा, अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. २४६.

○ ○

सौंदर्य

रंग

लोक में जो भी दृश्यमान है, उन सब का कोई-न-कोई रंग है। प्रकृति अपने आप में रंगीन है। इन रंगों की संवेदना हम सब को होती है। हमारे सौंदर्य -बोध के प्रतिमानों में रंगों का बहुत महत्त्व है। अब इन रंगों को काफी महत्त्व दिया जा रहा है। रंगों का चमत्कार सभी स्वीकार करते हैं। 'रंग' शब्द अपने आप में प्रभाव का द्योतक हो गया है। उस पर उसका रंग चढ़ गया, इसका अर्थ, वह उसके प्रभाव में आ गया और ठीक इसी तरह उस पर से उसका रंग उतर गया, का अर्थ, वह उसके प्रभाव से मुक्त हो गया है। दैनिक जीवन में रंगों से हमारा नित्य सम्पर्क बना हुआ है और इन रंगों के प्रति हम अपनी भावनाएं व्यक्त करते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, फिर भी स्वतंत्र रुचियों के आधार पर सामान्य रुचियों का बोध हो सकता है। सौंदर्य बोध की दृष्टि से रंगों की जो संवेदना हमारे मन में जागती है और रंगों का मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका स्थूल विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

रंगों का अध्ययन विविध रूपों में किया गया है। यह ऐसा विषय है, जिसका

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अनेक विषयों से सम्बन्ध है। इस पर भी विशेष रूप से शरीर-विज्ञानवेत्ता (Physiologist), रसायन शास्त्रज्ञ (Chemist), भौतिक शास्त्री, (Physicist) तथा मनोविज्ञानवेत्ता (Psychologist) से इस विषय का घनिष्ट सम्बन्ध है। इन विषयों के साथ-साथ सौंदर्य-शास्त्र के साथ भी रंगों का सम्बन्ध है। सौंदर्य-शास्त्र की दृष्टि से रंगों का विवेचन करने के लिए अन्य रूपों में रंगों का अध्ययन प्रस्तुत करना उपयोगी हो सकता है। प्रायः ज्ञात-अज्ञात रूप में शास्त्र-विशेष का बोध न होने पर भी अनुभव के आधार पर रंगों के प्रति हम अपनी भावनाएं व्यक्त करते रहते हैं। यदि हम अपने ही रंग-बोध का विश्लेषण करें, तो हमारे अपने सौंदर्य-बोध के प्रतिमान स्पष्ट होते हैं। रंगों के प्रति हम उदासीन नहीं रहते। उनका हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है और यथा अवसर हम अपने को व्यक्त करते ही हैं। इस बोध के साथ यदि शास्त्र-विशेष का ज्ञान हमें हो तो हम अपने बोध को सकारण व्यक्त कर सकते हैं।

शरीरविज्ञानवेत्ता के आधार पर इस बात का ज्ञान हो सकता है कि आँखों की संरचना किस प्रकार की है तथा हमें रंगों की संवेदना किस प्रकार होती है। रसायनशास्त्री रंग-द्रव्यों से परिचित होता है, तथा रंगों के निर्माण में एवं उसके उपयोग आदि के सम्बन्ध में जानकारी दे सकता है। भौतिकशास्त्र के आधार पर हमें प्रकाश के गुणधर्मों का परिचय मिलता है तथा प्रकाश के साथ रंगों का सम्बन्ध बतलाया जा सकता है। इसी तरह मनोविज्ञान के आधार पर रंगों के मानसिक प्रभावों का विश्लेषण किया जा सकता है। सौंदर्य बोध की दृष्टि से विवेचन करने के लिए भौतिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान :धिक उपयोगी है।

भौतिकशास्त्र से ज्ञात होता है कि प्रकाश की तरंगें होती हैं। प्रकाश की ये तरंगें गतिशील होती हैं। किसी वस्तु या किसी स्थान का कोई रंग, जो हमारी आँखों तक पहुँचता है, वह प्रकाश की तरंगों के कारण ही पहुँच पाता है। प्रकाश की जो तरंगें आँखों तक पहुँचती हैं, जिनके पहुँचने से आँखों को जो संवेदना होती है, उसी को हम रंग कहते हैं। पदार्थों के रंगों के गुणधर्म अलग-अलग होते हैं अतः उनकी संवेदना भी आँखों को भिन्न भिन्न रूप में होती है। वस्तु-विशेष में रंग-विशेष विद्यमान होता है। यह रंग-विशेष, उस वस्तु-विशेष का रंगधर्म है। इस आधार पर प्रकाश की तरंगें वस्तु-विशेष द्वारा बिंबित-प्रतिबिंबित होती रहती हैं। किसी वस्तु के रंग का निर्णय, इस आधार पर

होता है कि वह वस्तु प्रकाश की तरंगों को अपने में बिंबित नहीं करता। उदाहरण के लिए दिन के समय, प्रकाश में यदि कोई वस्तु सफेद दिखलाई देती है, तो इसका कारण यह है कि उस वस्तु ने सभी रंगों की तरंगों को प्रतिबिम्बित कर दिया है, ठीक उसी तरह जैसे हमारी आँखों ने किया है, किसी रंग विशेष को उस वस्तु ने अपने में विम्बित नहीं किया है। यदि कोई वस्तु नीले रंग की दिखलाई देती है, तो उसका कारण यह है कि उस वस्तु ने नीली किरणें, सफेद प्रकाश की किरणों में से अपने में बिम्बित कर ली हैं और अब उसकी प्रकाश लहरें नीले तरंग दैर्घ्य (wave length) की होगी और वह वस्तु नीली दिखलाई देगी।

सूर्य के प्रकाश की किरणों में रंगों का वर्णक्रम (Spectrum) इस प्रकार पाया जाता है :– लाल, नारंगी, पीत या पीला, हरा, नीला, नील और जामुनी या बैंगनी। इन्द्रधनुष में ये सतरंगी आभा दिखलाई देती है। वैसे समपार्श्व (Prism) से सूर्य की किरणें गुजारी जाए तो इन्द्रधनुषी आभा दिखलाई दे सकती है। इन रंगों का मेल श्वेत या सफेद रंग है। यदि किसी वस्तु में सभी रंगों की किरणें बिंबित हो जाती हैं, तो वह काला रंग है। काला रंग वस्तुतः प्रकाश का नहीं, अंधकार का द्योतक है। रंग या प्रकाश के अभाव को हम काले रंग में देखते हैं। इन सब रंगों के अपने अपने गुणधर्म और मूल्य हैं। सौंदर्य बोध के अन्तर्गत हम रंगों के गुणधर्म एवं मूल्यों पर ही विचार करते हैं।

रंगों के गुणधर्म

रंग का सम्बन्ध दृष्टिपटल से है। रंग की संवेदना आँखों को होती है अतः रंगों के गुणधर्म दृष्टिपटल पर पड़ने वाले रंग के प्रभाव से ही जाने जाएँगे। एक वर्ष ऐसा हुआ कि मैं जिस कक्षा के विद्यार्थी को पढ़ा रहा था, उस कक्षा में वह एकमात्र विद्यार्थी था। वर्ष भर मुझे उसे पढ़ाना पड़ा। वह काना था। पढ़ाते समय मुझे उसकी ओर देखना ही पड़ता। उस घण्टे भर में आँख को जो संवेदना होती, वह आँख ही जानती है। विद्यार्थी बहुत ही होशियार था और दूसरी बातें भी सब ठीक थीं किन्तु आँख तो आँख है। आँख को देखने पर आँख को संवेदना होती है और इसमें दूसरे गुणधर्म काम नहीं आ सकते। किसी की आखें आई हैं या आँखें लाल हो गई हैं, तो हम उसकी आँखों को देख नहीं सकते। आँख का ध्यान प्रथम दर्शन में ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से आँख पर ही जाता है। सुन्दर आँखों को देखकर आँखें प्रसन्न होती हैं।

रहीम ने तो लिखा है :–

> यों 'रहीम' सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत ।
> ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, आँखिन कों सुख होत। [१]

बड़ी आँखों को देखने से छोटी आँखों को सुख प्राप्त होता है। आँखें बड़ी हों और नीलकमल सदृश (राजीवलोचन) हों तो आँखों को सुख प्राप्त होता है।

रंगों के गुणधर्म उष्ण तथा शीत होते हैं । इन गुणधर्मों की पहचान रंगों के आंखों पर पड़नेवाले प्रभाव के कारण होती है। लाल तथा नारंगी रंग उष्ण गुणधर्मों के हैं और नीला तथा जामुनी रंग शीत गुणधर्मों के हैं । हरा रंग न अधिक उष्ण है और न अधिक शीत । यदि हरे रंग में पीले रंग की आभा बढ़ती जाएगी तो वह उष्म होता जाएगा और यदि नीली आभा बढ़ती जाएगी तो वह शीत होता जाएगा । उष्म रंगों की अपनी संगति है, इसी तरह शीत रंगों की अपनी संगति है। उष्म तथा शीत रंगों का निर्णय रंगविशेष का आँख पर पड़नेवाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है ।

रंगों के मूल्य

रंगों के मूल्यबोध के लिए हमें रंग के मंद (Light) या गहरे (Dark) स्वरूप को देखना होगा । इस दृष्टि से सफेद रंग का मूल्य सब से अधिक है और काले रंग का मूल्य सब से कम है । जो रंग जितना मंद होगा, उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा और जो रंग जितना गहरा होगा, उसका मूल्य उतना ही कम होगा ।

सफेद रंग पर दाग जल्दी लग जाता है और काले रंग पर कोई रंग चढ़ता ही नहीं है। सफेद रंग से मंद रंग और कोई हो ही नहीं सकता और इसी तरह काले रंग से गहरा दूसरा रंग नहीं हो सकता। इनके बीच के साधारण क्रम को देखें तो वह इस प्रकार हो सकता है। रंगों का यह क्रम अधिक मूल्य से कम मूल्य की ओर है। पीला, पीत-नारंगी या पीत-हरा, नारंगी या हरा, लाल-नारंगी या नीला-हरा, लाल और नीला, लाल-जामुनी या नीला-जामुनी तथा जामुनी । इस तरह हम देखते हैं कि सफेद और काले रंगों को छोड़ दें तो शेष रंगों में पीले रंग का मूल्य सब से अधिक है और जामुनी रंग का मूल्य सब से कम है । पीला रंग कितना ही गहरा क्यों न दें आखिर वह पीला है और उसका प्रभाव मंद ही रहेगा। गहरा पीला रंग और फीका जामुनी रंग

पास-पास हों तो फीका जामुनी रंग, पीले गहरे से गहरा ही दिखाई देगा। जिन रंगों का मूल्य ऊँचा होता है, वे अधिक प्रकाश का बोध कराते हैं और जिन रंगों का मूल्य कम होता है, वे कम प्रकाश का बोध कराते हैं।

ऊपर रंगों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, वह रंगों का सामान्य परिचय है। इस परिचय के अभाव में भी हम लोग अपने-अपने रंग-बोध को व्यक्त करते ही रहते हैं। सौंदर्य-बोध की दृष्टि से रंगों के विवेचन में यह ज्ञान रंगों के चयन तथा उनकी उपयोगिता में सहायक हो सकता है। सौंदर्य-बोध की दृष्टि से रंगों के चयन तथा उनके व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, फिर भी सामान्य रूप में रंगों के सम्बन्ध में जो धारणा या विचार जनसामान्य में व्याप्त है, उसका विहंगावलोकन नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

रंगों की जो संवेदनाएं आँखों को अनुभव होती है, उसका मनुष्य के मन पर प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक रूप में वस्तुओं, पदार्थों, प्राणियों एवं मनुष्यों आदि के जो रंग हैं, उनका प्रभाव मनुष्य के मन पर अधिक रहता है। प्राकृतिक दृश्यों की आभा इनमें सब से महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को रंगबोध का अभ्यास प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन से होता है। रंगों के ये संस्कार ही मनुष्य के सौंदर्य बोध के प्रतिमान स्थिर करने में सहायक होतें हैं। अनुभव और प्रसंग के अनुसार हम सब सीखते जाते हैं। कलाओं में रंगों के माध्यम से हम अपने को व्यक्त करते हैं। कला-पारखी या कला-समीक्षक रंगों के सम्बन्ध में जब अपना निर्णय देता है, तो उसके सामने प्राकृतिक रंग ही मूल्य-निर्णय में सहायक होते हैं। यहाँ नीचे रंगों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जा रहा है, वह रंगों के सम्बन्ध में सामाजिक बोध को ध्यान में रखकर लिखा जा रहा है। इसमें व्यक्ति का अपना आग्रह भी हो सकता है। पाठकों की रंगों के सम्बन्ध में विपरीत धारणा हो तो, इसे वे एक पक्ष मानकर या दृष्टिकोण मान कर चलें। सौंदर्य की दृष्टि से अन्तिम निर्णय देना और आग्रह व्यक्त करना वैसे ही गलत है। अस्तु।

श्वेत या सफेद रंग

श्वेत या सफेद रंग प्रकाश का द्योतक है। इसकी आभा सब से अधिक होती है। इसका मूल्य भी अधिक है। सूर्य के प्रकाश की किरणों में श्वेत चमकती आभा देखी जा सकती है। इस रंग में सब रंग समाए हुए हैं। सफेद रंग की वस्तु आकार में बड़ी दिखलाई देती हैं। धवल वस्त्र आच्छादन कीजिए, व्यक्तित्व

की गरिमा धवलित होती ही है। नाटा व्यक्ति भी धवल वस्त्रों में कुछ बड़ा हो ही जाता है। वैसे सफेद रंग पर दाग (कालिमा) जल्द लग जाता है, अतः इस रंग की सुरक्षा आवश्यक है। दूध धवल है, चाँदनी धवल है, मोती धवल है, मेघ धवल हैं, पुष्प धवल हैं, प्रकाश की किरणें धवल हैं और इस तरह धवल वर्ण से सम्बन्धित कई रूप हैं। इन सब की धवलिमाओ में अन्तर है। इस तरह प्राकृतिक रूप में धवल आभा जिन जिन में वर्तमान है और जिनके संस्कार मन पर पड़े हुए हैं, इस आधार पर ही हम इस रंग के प्रति अपनी धारणा बनाते हैं।

श्वेत रंग में चमक मिश्रित हो तो प्रकाश तेज होता है। चमकीले पदार्थ पर दृष्टि तुरत जाती है। चमक में प्रकाश की मात्रा अधिक होती है। यही नहीं चमकीले पदार्थ से प्रकाश विकीर्ण होता है। सूर्य तथा वे सब उपकरण जो प्रकाश फैलाते हैं, चमकीले होते हैं। प्रकाश की कितनी मात्रा को हमारी आँख सह सकती है, वैज्ञानिक लोग इसे ठीक बता सकेंगे किन्तु चमक की मात्रा यदि बढ़ती जाए तो प्रकाश की मात्रा बढ़ती है और प्रकाश की मात्रा बढ़ती है तो एक सीमा के बाद हमारी आँखें प्रकाश को देख नहीं सकती। सूर्य की ओर हम अधिक देर तक नहीं देख सकते। बिजली प्रकाशमान है, चमकीली है और चंचल है। जब बिजली चमकती है, तो चंचल तथा चलायमान होने के कारण तुरत गायब हो जाती है। इस चमक की संवेदना आँखों में हलचल मचानेवाली होती है। श्री जयशंकरप्रसाद ने इस श्वेत आभा का बिंब प्रस्तुत किया है। आँसू में नायिका (आँसू का आलम्बन) के तन की पावन शोभा इस रूप में चित्रित है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी। [२]

यह सब प्रकाश का वर्णन है। किन्तु इन पंक्तियों से सौंदर्य का जो बिम्ब मन पर उभरता है, उस बिम्ब का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है।

चंचला यहाँ संज्ञा तथा विशेषण दोनों का बोध देते हैं। अभिधात्मक अर्थ देखें तो बिजली का बिम्ब उभरता है। बिजली स्वयं प्रकाशमान है। उसको स्नान की आवश्यकता नहीं। स्नान से रूप निखरता है किन्तु स्नान किससे किया

जाए ? होना तो यह चाहिए कि बिजली उस प्रकाश में स्नान करे जिसका प्रकाश बिजली से अधिक हो। अन्यथा प्रकाश मंद होगा। यहाँ चंचला, चंद्रिका पर्व में स्नान कर रही है। चंद्रिका-पर्व अथात् राका-रजनी में स्नान करना है। एक प्रकाश, दूसरे प्रकाश में स्नान कर रहा है। अब देखना यह है कि दोनों ही प्रकाशों के गुणधर्मों में क्या अन्तर है ? चंचला का प्रकाश चाँदनी से अधिक चमकदार, प्रकाशमान तथा गतिमान है। इस तुलना में चाँदनी अधिक व्याप्त, शान्त, आँखों को शीतलता प्रदान करनेवाली तथा स्निग्ध है। अब यदि चंचला चांदनी में स्नान करे तो चंचला के मूल गुण चंचला में रहेंगे ही किन्तु चांदनी में स्नान करने के कारण चांदनी का निखार उसमें आ जाएगा। प्रसाद की उस नायिका के तन की पावन शोभा, इस निखार से युक्त थी। उसका आलोक मधुर था। चंचला का प्रकाश चांदनी के प्रकाश से युक्त हो जाएं तो वह आलोक हो जाता है। अर्थ यही तो है। इस आलोक का गुणधर्म मधुर है, वह आँखों को भानेवाला है।

श्वेत रंग प्रकाश के गुणधर्मों से युक्त होने के कारण ज्ञान का प्रतीक है। वे सभी पदार्थ, जो चमकीले हैं, तथा जिनसे प्रकाश विकीर्ण होता है, ज्ञान-स्वरूप माने जाते हैं। इसके अन्तर्गत सूर्य से लेकर दीपक तक सभी आते हैं।

श्वेत रंग स्वच्छता के बोध में सहायक है। जब 'हम दूध का धुला' मुहावरे का प्रयोग करते हैं, तो इसमें स्वच्छता का बोध ही दिखलाई देता है। पानी से सभी धोते हैं किन्तु दूध से धोना कुछ विचित्र लगता है। वैसे ये मुहावरा व्यंग्य के रूप में प्रयुक्त होता है। स्वच्छतां के अतिरेक का व्यंग्यात्मक भाव इसमें है।

स्वच्छता का सम्बन्ध जल से है। जल से सभी वस्तुएं धुलती हैं। जल को हम पानी कहते हैं। पानी से पूछो कि हे पानी, तेरा रंग कैसा है ? तो उत्तर मिलेगा, जिसमें मिलाए, वैसा। रसायनशास्त्री बतलाते हैं कि पानी का कोई रंग नहीं होता। प्रकाश की आभा में जल प्रकाशमान प्रतीत होता है। झरने या प्रपातों में हम प्रकाश की झलक ही जल में देखते हैं। पानी स्वयं रंगरहित होने के कारण, वह सब प्रकार के रंगों को धोने में, साफ करने में तथा सब को नया जीवन प्रदान करने में सहायक हैं। श्वेत रंग प्रकाश का द्योतक है और पानी से धुलने के बाद, रंग का प्रकाश (चाहे वह कोई भी रंग हो) बढ़ता ही है। रंग का प्रकाश बढ़ने का अर्थ, वह साफ होना या नया जीवन प्राप्त करना

है। सद्यस्नात प्रकृति को निहारिए, बड़ी ताजगी और नये जीवन का अनुभव होता है। प्रकृति के विविध रंग धुलकर नई आभा से युक्त होते हैं।

वस्त्रों में श्वेत रंग का अपना महत्त्व है और इसे सभी स्वीकार करते हैं। श्वेत रंग की एक विशेषता यह है कि वस्तु जितने आकार के होते हैं, उससे वे बड़े और फैले हुए दिखलाई देते हैं। श्वेत परिधान में बड़प्पन का, उज्ज्वलता का तथा गरिमा का बोध होता है। प्रायः मंत्री, नेता, डॉक्टर, उच्च पदाधिकारी, सेठ साहूकार, रेल्वे गार्ड आदि धवल वस्त्र पहनते हैं। श्वेत वस्त्रों का प्रचलन अधिक हे। गरीब आदमी भी श्वेत वस्त्र ही अधिक पहनता है। इसमें सादगी, स्वच्छता तथा गरिमा का अनुभव होता है।

अमृत धवल होता है, जो जीवन का द्योतक है। मोती धवल तथा कान्तिमान होते हैं। कई प्रकार के पुष्प हैं, जो श्वेत होते हैं– श्वेत कमल हैं, श्वेत गुलाब हैं, मोगरा तथा चमेली के फूल हैं। ये सारी धवलिमाएं प्राकृतिक हैं।

हँसने का सम्बन्ध श्वेत रंग से माना गया है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'सितो हास्यः प्रकीर्तितः'[3] श्वेत को हास्यरस का रंग माना है। हँसने को धवल रंग से जोड़ने का कारण यह हो सकता है कि हँसने में दाँतों का उपयोग होता है और दाँत सफेद होते है। हँसने में मुख के अवयव फैलते हैं, इससे मुख का प्रकाश फैलता है। हँसना सुख है और सुख के प्रकाश को फैलाना हॅसने का काम है। जहाँ प्रकाश है, वहाँ श्वेत रंग है।

प्रकृति में श्वेत रंग के अनेक रूप है और इन रूपों के पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण से सौंदर्य सम्बन्धी संस्कार हमारे मन में बनते रहते हैं। श्वेत रंग एक ओर प्रकाश तथा जीवन का द्योतक होने पर भी विपरीत प्रसंगों में यह रंग अन्य भाव-बोध का द्योतक भी होता है। कान्ति, चमक तथा चेतना से युक्त होने पर श्वेत रंग की आभा सब को अच्छी लगती है किन्तु इन गुणों के अभाव में श्वेत रंग का मूल्य कम हो जाता है। जैसे हम कहें कि उसने आँखें सफेद कर दीं, यहाँ, आँखों का सफेद होना, आँख में जो जीवन पाया जाता है (तरलता, कान्ति, चमक) उससे रहित होना है। प्राकृतिक रूप में जो रंग पाया जाता है, वह रंग यदि लुप्त होने लगता है या गायब होता है तो उसका स्थान सफेद रंग लेने लगता है। इस सफेदी में चमक तथा कान्ति नहीं होती और इससे जीवन से ह्रास का अनुभव ही होता है। यदि हम कहें कि वह

सफेद होता जा रहा है तो इसका अर्थ वह कान्तिहीन और तदनुसार जीवन से रहित होता जा रहा है, यह लेना चाहिए। और रंगों की बात छोड़िए, जो केश एकदम काले होते हैं, वे तक अवस्था-क्रम में अपने प्राकृतिक रंग को छोड़कर एकदम सफेद हो जाते हैं। इस सफेदी को क्या कहा जाए? बालों की सफेदी में सौंदर्य माननेवाले मान सकते हैं किन्तु अनुभव तो यही कहता है कि काले बाल सुन्दर होते हैं। बिहारी ने सुन्दर बालों के सम्बन्ध में कहा है– 'सहज, सचिक्कन, स्याम-रुचि, सुचि, सुगंध, सुकुमार'[४] अर्थात् बालों का सहज स्याम (काला) रंग ही सुन्दर होता है या माना जाता है। वस्तुतः प्राकृतिक रूप में जिसका जो रंग होता है, उसके उस रंग के ही संस्कार मन पर पड़ते हैं और हमारी सौंदर्य-बोध की धारणा उस (प्राकृतिक) रंग के आधार पर ही बनती है। रंग में यदि निखार आता है, चमक आती है, आभा बढ़ती है तो सौंदर्य का बोध होता है। इसके विपरीत यदि रंग फीका पड़ने लगता है, अपना मूल रंग खोने लगता है तो सौंदर्यरहित माना जाएगा। फिर यह स्थिति काले रंग तक के लिए है, तो और रंगों के सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नहीं है। जो भी अपना रंग खोते हैं, वे सफेद होने लगते हैं और इस प्रकार का सफेद रंग जीवनरहित माना जाएगा।

काला रंग

काला रंग अंधकार का द्योतक है। यह रंग ऐसा है, जिस पर और कोई रंग चढ़ नहीं सकता। इस रंग का मूल्य सब से कम होता है। इस रंग में रोशनी नहीं अतः यह अज्ञान का बोध देनेवाला रंग भी कहा गया है। काले रंग में सभी रंगों की किरणें बिम्बित हो जाती हैं। सौंदर्य–बोध की दृष्टि से इस रंग पर विचार करें तो इसमें भलें-बुरे दोनों ही रूप दिखलाई देंगे।

दिन में प्रकाश होता है और रात में अंधकार होता है। अंधकार घना हो तो हम कुछ भी नहीं देख सकते। घने अंधकार में तो हम अपना हाथ तक नहीं देख सकते। जो अंधे हैं, उनके लिए तो दिन में भी अंधेरा है। आँखवाले भी यदि आँखें बंद कर लें तो अंधकार (दिन में भी) दिखलाई देगा। काले रंग में मृत्यु, अवसाद निराशा, नाश आदि का बोध व्याप्त है। चिर निद्रा मृत्यु ही है। निद्रा में आँख बन्द रहती है और आँख के बन्द रहने में जीवन कहाँ? जीवन का बोध तो जागरण में तथा आँख खोलने में है।

काले रंग में चिरनिद्रा तथा मृत्यु का आभास होने पर भी इसमें रहस्यानुभूति भी है। कालिमा में क्या छिपा है, यह कौन कहे? अंधकार में सभी रंग की

वस्तुएँ काली ही दिखलाई देंगी। प्रकाश के उदित होने पर ही अलग अलग रंगों का बोध हो सकता है। इसीलिए अंधकार रहस्यमय है। रहस्य में विश्वास तथा आस्था हो तो फिर हम आशावान् हो सकते है।

भरतमुनि ने श्याम रंग को शृंगार का रंग माना है। 'श्यामो भवति शृंगार:'[५] श्यामल सौंदर्य का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। तुलसी ने राम के तथा सूर ने कृष्ण के श्यामवर्ण का वर्णन किया है। प्रश्न है क्या श्याम रंग काला नहीं है? श्याम रंग काला ही है। श्याम क्यों? कृष्ण का अर्थ भी काला ही है। भरत मुनि ने जहाँ श्याम को शृंगार का रंग माना, वहाँ कृष्ण को भयानक रस का रंग माना है। कहा है 'कृष्णश्चैव भयानक:'[६] काले रंग के ये सब पर्यायी रूप हैं। इन पर्यायी रूपों में अर्थ विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि अर्थो में यह भिन्नता रंगतों में भेद होने के कारण है।

श्याम रंग का प्रयोग सदैव सौंदर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्याम, सौंदर्य का पर्याय तो नहीं, अपितु सौंदर्य-सूचक रंग माना गया है। तुलसी ने राम के सहज सौंदर्य का वर्णन करते हुए लिखा है– 'स्याम सरीरु सुभायँ सुहावन, सोभा कोटि मनोज लजावन'[७]। श्याम रंग, काला होने पर भी इसमें नीलिमा की झलक है। इस नीलिमा के कारण काले रंग में साँवली चमक आ जाती है। श्याम रंग शुद्ध काला रंग नहीं है। रंग गहरा है किंतु यह गहराई उस नीले रंग की है, जो अधिक गहरेपन के कारण काली प्रतीत होने लगती है। श्याम का पर्यायी अर्थ जब हम काले रूप में लेते हैं, तो इसका एक कारण यह है कि यह रंग गाढ़ा या गहरा (चाहे वह नीला हो, हरा हो) होता है। अधिक गाढ़ेपन के कारण रंग में कालिमा आ जाती है। संक्षेप में नीला रंग इतना गहरा हो कि वह काला प्रतीत होने लगे तो उसे श्याम रंग कहा जाएगा। यह श्याम रंग ही शृंगार का रंग है।

कृष्ण का अर्थ भी काला ही है। कृष्ण, शब्द में वस्तुत: विशेषण तथा विशेष्य एक हो गए हैं। कृष्ण का श्याम नाम तो उनके शरीर के रंग के कारण पड़ा है किन्तु कृष्ण, जो मूलत: नाम हो और श्यामता (गुण) के कारण काला अर्थ ग्रहण कर गया हो। इसे यों भी कह सकते हैं कि श्याम में विशेषण का बोध है जो बाद में विशेष्य बन गया और कृष्ण में विशेष्य का बोध है, जो बाद में विशेषण बन गया। कृष्ण के साथ 'श्री' भी जुड़ा है। पूरा नाम 'श्रीकृष्ण' है। इसका विश्लेषण करें, तो काले रंग की (कृष्ण वर्ण की) शोभा (श्री)

जिसमें हो, वह । काले रंग की शोभा श्याम रंग में है । संक्षेप में काले रंग की शोभा का द्योतन करनेवाला रंग श्याम रंग है।

अंधकार का अर्थ काले के रूप में लिया जाता है। वस्तुतः काले रंग को जब अज्ञान के अर्थ में लिया जाता है, तो इसका कारण प्रकाश का अभाव है । जब तक अंधकार रहता है, तब तक कुछ दिखलाई नहीं देता। अंधकार में तो सब रंगों का रूप काला ही दिखलाई देगा। किन्तु प्रकाश होने पर सब फिर अपना-अपना रंग देंगे । वस्तुतः काले तो (सहज में काले) वे हैं, जो प्रकाश के होने पर भी काले दिखलाई दें। इस प्रकार से, जो काले होंगे, उस काले रंग को अंधकार से नहीं जोड़ा जा सकेगा। जो सहज या प्राकृतिक रूप में काले हैं, उस काले रंग में सहज सौंदर्य का बोध होगा। बाल सहज में काले होते है और वे सुन्दर माने गए हैं। इसी तरह के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

लाल रंग

लाल रंग सब रंगों में उष्ण माना गया है। यह गरम तथा उत्तेजना का रंग है । स्यामल रंग जितना शीतल है लाल रंग उतना ही उष्ण है। प्रमाण यह है कि स्यामल रंग को देखने से आँखों को शीतलता तथा शान्ति प्राप्त होती है। हम रात में सोते समय बत्ती बुझा देते हैं। प्रकाश में नींद नहीं आती अंधेरे में मादकता तथा तल्लीनता होती है। चहल-पहल का बोध नहीं होता। अंधेरा स्वयं लोरियाँ देता है और हम सो जाते हैं। वैसे हम नींद से जग जाएँ (आँख खोले) और प्रकाश दिखलाई दे तो आँखों को तकलीफ होती ही है। कहना यह है कि अंधकार में स्यामता है और यह स्यामता आँखों को आराम पहुँचाती हैं। हमारी आँखें स्वयं स्याम वर्ण की हैं। आँख की पुतली काली होती है। वस्तुतः रंगों की संवेदना आँखों को होती है और निश्चित ही आँखों के लिए सब से सुखदायी और आरामदाई रंग वही है, जिस रंग की स्वयं आँख होती है। आँख में दोनों विरोधी रंग एक साथ होते हैं। सफेद और स्याम। पृष्ठभूमि में सफेद रंग होता है और मध्य भाग में स्याम रंग होता है। आँख की पुतली काली ही होती है । इस स्यामता या कालेपन में तरलता, चंचलता, गति और चमक सब एक साथ होते हैं । आँखों को रोशनी भी आँखों से ही मिलती है। सुन्दर आँखें देखने मिले तो जी प्रसन्न हो जाता है। वस्तुतः प्रसंग लाल रंग का है किन्तु वर्णन सब स्याम रंग का हो गया। यह इसलिए कि यहीं आँखें जो स्याम रंग को देखकर तृप्त होती हैं, शान्ति का अनुभव करती

हैं, वे ही आँखे लाल रंग को देखकर गरमी का अनुभव करने लगती हैं। यदि किसी की आँख आई हो, अर्थात् किसी की आँखें लाल हो तो हम उन आँखों को देर तक देख नहीं सकते। हम किसी से बात करते हैं या किसी की ओर उन्मुख होते हैं, तो हमारी आँख सामनेवाले की आँख से मिलती है। इस मिलन में सुखद अनुभव तभी होगा, जब आँख में स्यामता हो। आँख में लालिमा होने पर आँखों को खुशी का अनुभव नहीं होगा। लाल रंग खून का (रक्त का) रंग है। लाल रंग में जोश है, उत्साह है, क्रोध है और सब से बढ़कर संघर्ष की भावना है। क्रान्ति का रंग लाल है, आग लाल है, सूर्य का गोला लाल है। सब जगह गरमी है। जिसकी आंखें लाल हैं, वह शान्त नहीं रह सकता। भरत मुनि ने लाल रंग को रौद्र रस का रंग माना है। 'रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः'। ८

लिखने में काली स्याही का प्रयोग अधिक प्रचलित है। इधर नीले रंग की स्याही का प्रचलन अधिक हो गया है। वेसे स्याही का अर्थ ही काला रंग है। इन स्याहियों में यदि लाल स्याही का प्रयोग हो तो यह प्रयोग विशेष रूप से गलतियों को ठीक करने के लिए या विशेष तथ्यों का बोध करने के लिए होता है। लाल रंग जल्दी से ध्यान आकृष्ट करता है। अतः जहाँ भी रेडमार्क होगा (लाल निशान लगा होगा) वहाँ तुरत ध्यान जाएगा। लाल रंग में अरजन्सी है, तुरत ऐक्शन लेने की भावना है। यह रंग अधिक क्रियाशील तथा गत्यात्मक है।

लाल रंग में संकट की घोषणा है, सजगता का बोध है तथा कर्म के प्रति आह्वान है। किसी सड़क का काम चल रहा हो, तो रास्ता बंद, काम चालू के लिए लाल रंग का निशान लगाया जाता है। लाल बत्ती दिखलाई दे तो चलते वाहन रुक जाते हैं और जब तक रंग बदल न जाए रुके रहते हैं।

लाल रंग भड़कीले रंगों में से है। विशेष रूप से इस रंग का भडकीलापन शीघ्र ध्यान आकृष्ट करता है। अतः जिनकी अभिरुचि भड़कीले रंगों में होती है, वे लाल रंग को पसन्द करते हैं। इस रंग के इस गुण के कारण (भड़कीलेपन के कारण) यह रंग, रंग मात्र के उल्लेख से पहचान लिया जाता है। रंग, शब्द का अर्थ प्रायः 'लाल' अर्थ ले लिया जाता है।

लाल रंग सुहाग का चिह्न है। कुंकुम लाल रंग का होता है। गुलाल लाल है। सांस्कृतिक अवसरों पर इस रंग का उपयोग किया जाता है। 'मंगलु बिन्दु

सुरंगु'[९] कहा गया है। यहाँ सुरंग का अर्थ लाल रंग ही लिया गया है। मंगल अवसरों पर इस रंग का प्रयोग किया जाता है।

लाल रंग के भी अनेक पर्यायी रूप हैं और सबकी रंगतों (Shades) में भेद है। कुंकुम की रंगत तथा गुलाल की रंगत में भेद है, इसी तरह रक्त की रंगत और आग की रंगत में भी भेद है। इन भेदों के आधार पर इन रंगतों के नाम भी अलग अलग हैं। जिस रंगत का प्रयोग जिस कार्य के लिए होता है, उस रंगत के साथ हमारे मन में उसी प्रकार के संस्कार जुड़ जाते हैं और हमारी अभिरुचि तदनुसार ही बनती है। इस रंग के सम्बन्ध में केशवदास ने राम-चंद्रिका में कई प्रकार के बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। वर्णन सूर्योदय का है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

राम : कछु राजत सूरज अरुन खरे, जनु लक्ष्मन के अनुराग भरे।
चितवत चित्त कुमुदिनी त्रसे, चोर चकोर चिता सी लगे।

लक्ष्मण : अरुन गात, अतिप्रात पद्मिनी प्राननाथ भय।
मानहु केसवदास कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरन सिंदूरपूर, कैंधौं मंगल घट।
किंधौ शक्र को छत्र मढ्यौ मानिकमयूख पट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैंधौं लसत दिग्भामिनी के भाल को।
पसरे कर, कुमुदिनी काज मनो, किधौ पद्मिनी को सुख देन घनो।
जनु ऋक्ष सबै यहि त्रास भगै, जिय जानि चकोर फँदानि ठगे।

राम : व्योम में मुनि देखि के अति लालश्री मुख साजही।
सिंधु में बड़वाग्नि की जनु ज्वालमाल बिराजहीं।
पद्मरागनि की किंधौं दिवि धूरि पूरित सी भई।
सूर–बाजिन की खुरी अति तिक्षता तिनकी हुई।

विश्वामित्र : चढ़ो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन।[१०]

सूर्योदय का समय है। विश्वामित्र ऋषि, राम तथा लक्ष्मण के साथ जनक-पुरी की ओर आ रहे हैं। ऐसे समय में उदित होते हुए सूर्य के लाल गोले को देखकर राम, लक्ष्मण तथा विश्वामित्र के मन में जो भाव उदित होते हैं, उन भावों का वर्णन कवि ने किया है। सूर्योदय के समय सूर्य लाल दिखलाई देता

है। इस लालिमा को देखकर अनेक उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। राम अलग ढ़ंग से देखते हैं, लक्ष्मण कुछ और रूप में तथा विश्वामित्र कुछ और रूप में। इस आधार पर कवि द्वारा दिए गए बिम्बों को देखकर सौंदर्य के विविध अनुभवों का बोध होता है।

राम यह अनुभव करते हैं (वे कहते हैं, संवाद रूप में रामचंद्रिका लिखी गई है) कि लाल सूर्य ऐसा जान पड़ता है, मानो लक्ष्मण का अनुराग (अनुराग का रंग लाल माना गया है) उसमें (सूर्य में) भरा हुआ है। सूर्य को देखकर (यहाँ उसकी लालिमा को देखकर) कोई या कोकाबेली अपने चित्त में डरती है, (कारण यह कि सूर्य की किरणे उसे छू न लें) चोर तथा चकोर को यही लालिमा चिता की ज्वाला के समान प्रतीत होती है। अर्थात् दोनों के लिए यह दुखदायक है। चोर अंधेरा चाहता है, प्रकाश में वह चोरी नहीं कर सकता। चकोर को भी चाँद दिन में नहीं मिल सकता। इसलिए दोनों दुखी हैं। राम अपने अनुभव को विश्वामित्र तथा लक्ष्मण के सम्मुख इस रूप में रखते हैं।

लक्ष्मण कैसे चुप रहे? लक्ष्मण के अनुभव तो और विचित्र हैं (ये केशवदास के लक्ष्मण हैं)। लक्ष्मण कहते हैं। प्रातःकाल के समय सूर्य का गात (शरीर) लाल रंग का हो गया है। सूर्य पद्मिनी के प्राणनाथ हैं, इसी तरह कोकनद (कमल) और कोक (चक्रवाक) दोनों के प्रति सूर्य के हृदय में अपार प्रेम हो और इस प्रेममयता के कारण उसका गात लाल हो गया हो। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह मंगल-घट है, जो सिंदूर से पूरी तरह भरा हुआ तथा उसी रंग से युक्त हो गया है। इसको इन्द्र का छत्र भी माना जा सकता है, जो माणिक की किरणों (माणिक लाल रंग का होता है, अतः उसकी किरणें भी लाल होंगी) से बुने हुए कपड़े से बनाया गया हो। इसे अन्यथा स्थिति में निश्चित रूप से यह भी कह सकते हैं कि काल रूपी कापालिक के हाथ में यह किसी का रक्त भरा हुआ सिर है (कापालिक ने अभी अभी बलि चढ़ाने के लिए सिर काटा हो)। यह भी संभावना है कि पूर्वदिशा रूपी स्त्री के मस्तक का यह मणि हो। ऐसा भी हो सकता है कि सूर्य की किरणों को सूर्य का हाथ मान लिया जाय और ये हाथ कुमुदिनी को पकड़ने के लिए (प्रेम के कारण, तथा सुख देने की इच्छा से) फैल गए हों। सूर्योदय के कारण तारे अस्त हो गए हैं। संभवतः तारे इस बात से डर गए कि किरणों के जाल में कहीं फंसना न पड़े और चकोर तो फंदा समझ कर ठगा सा ही रह गया है।

लक्ष्मण के निवेदन के उपरांत राम मुनि की ओर उन्मुख होते हुए कहते हैं। 'हे मुनि देखिए आकाश में सूर्य की लालश्री (लाल रंग की आभा) शोभा दे रही है। इस शोभा को देखकर यह कहा जा सकता है कि बाड़वाग्नि (समुद्र की) की ज्वालाओं का समूह एकत्रित होकर यहाँ (सूर्य रूप में) विराज रहा हो। अथवा सूर्य के घोड़ों के दौड़ने से उनके तीक्ष्ण सुमों से पद्मराग मणि का चूर्ण हो गया हो और वह चूर्ण आकाश में पूरित हो गया हो।

तदुपरांत विश्वामित्र ऋषि कहते हैं– 'सूर्य वस्तुतः बंदर के लाल मुख के समान है। बंदर, जैसे पेड़ पर चढ़ जाता है और पेड़ की डालियों को झकझोरता है तथा उसके फूलों को गिरा देता है। ठीक उसी तरह यह सूरज (वानर रूप में, लाल होने के कारण) आकाश रूपी पेड़ पर चढ़ गया है। उसने पेड़ को इतना हिलाया कि पेड़ से सारे पुष्प झड़ गए हैं। यहाँ पुष्प का अर्थ तारों से लिया गया है। आकाश से सारे तारे गायब हो गए हैं।

केशवदास की इस प्रकार की कल्पना-शक्ति को देखकर आश्चर्य होता है। हम वस्तुतः सूर्योदय के रमणीय प्रसंग को (प्राकृतिक सौंदर्य को) भूल जाते हैं और तरह तरह के बिंब देखने लगते हैं। जहाँ तक लाल रंग की बात है, इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि रंग विशेष के प्रति मन में तरह तरह के विचार उठते हैं। इन विचारों में हमारे भीतर जो संस्कार रहते हैं, वे संस्कार ही बाहरी रूपों का निर्णय लेने में सहायक होते हैं। कहाँ तो लाल रंग अनुरागमय बतलाया गया है और कहाँ कापालिक के हाथ में रक्त से भरे हुए सिर के समान। दोनो में कितना विरोध है? ऐसी स्थिति में सौंदर्यबोध की भावना को व्यक्ति-मूलक (Subjective) मानना होगा, वस्तुमूलक (Objective) नहीं। हम भीतर जो सोचते हैं, उसी का आरोपण बाह्य जगत् में करने लगते हैं। सूर्य का लाल होना काफी है, बाकी सब कुछ अपना ही है। वैसे केशवदास का यह वर्णन बहुत रमणीय नहीं है। इसमें काफी दिमागी कसरत है। इस प्रसंग में केशवदास की चमत्कृत वृत्ति का भी बोध हो जाता है। मूल प्रसंग से हटकर हम कल्पना जगत् में विचरने लगते हैं।

इस उदाहरण को इतने विस्तृत रूप में लिखने का कारण यह है कि रंग के प्रति हमारे मन में कई प्रकार की संवेदनाए एक साथ जाग सकती हैं। लक्ष्मण को ही देख लीजिए, एक साथ विरोधी संवेदनाएँ उसके मन में जाग जाती हैं। इससे इतना समझना चाहिए कि रंगबोध बहुत हद तक हमारे अपने संस्कारों पर निर्भर है।

नीला रंग

श्याम रंग का वर्णन ऊपर हो गया है। श्याम रंग, नीले रंग की एक रंगत है। श्याम रंग ठंडा होता है, उसी तरह नीला रंग भी ठंडा माना गया है। आँखें इस रंग को देखकर शीतलता का अनुभव करती हैं। नीला रंग भी लाल की तरह भड़कीला होता है। इस रंग की संवेदना में गहराई का बोध है। अधिक गहराई हो और शून्य व्याप्त हो तो नीलिमा का अनुभव होता है। आकाश नीला है। शून्य के रहस्य को क्या बतलाएँ? हम जो देखते हैं, वह रंग है। यह नीला रंग भी दिन के प्रकाश में दिखलाई देता है।

भरत मुनि ने कृष्ण (काले) रंग को भयानक रस का तथा नीले रंग को बीभत्स रस का रंग माना है। कहा है—'कृष्णश्चैव भयानकः'[11] इसी तरह 'नीलवर्णस्तु बीभत्सः'[12] यहाँ कृष्ण का अर्थ, एकदम काला, सहज काला रंग है और यह भयानक है। यह काला रंग श्याम रंग से भिन्न है। नील वर्ण को बीभत्स कहने का कारण संभवतः यह हो कि इस रंग में विषण्णता तथा उदासीनता का बोध माना गया है। यह बोध ठीक लाल रंग के विपरीत है। लाल रंग में जोश उत्साह तथा गरमी है, ठीक उसके विपरीत नीले रंग में उदासीनता, विषण्णता और ठण्डापन है। नीला हो जाने का अर्थ विवर्ण हो जाना है। अर्थात् रंग का बेरंग हो जाना है। इसके विपरीत 'रंग' का अर्थ मात्र लें, तो लाल रंग होता है।

सहज रंग को खोकर यदि कोई रंग बदले तो फिर बदले हुए रंग में बीभत्स का चित्र दिखलाई देगा। रासायनिक रूप में रंग में परिवर्तन हो और वह नीला दिखलाई देने लगे, तो यह दृश्य बीभत्स दृश्य ही होगा। वह नीला हो गया या वह नीला पड़ गया का अर्थ वह खराब हो गया है, ऐसा ही समझना चाहिए।

सहज नीला रंग आँखों को प्यारा लगता है। कारण यह है कि इस रंग में आँखों के रंग की संगति है। आँख ठण्डक चाहती है। नीले रंग से आँख को आराम मिलता है। नीला प्रकाश आँखों को प्रिय लगता है। धूप में (अधिक प्रकाश में) हम नीले रंग का चश्मा पहनें तो गरमी से बचते हैं। नीला रंग तेज प्रकाश को मंद ही नहीं करता अपितु ठण्डा भी करता है। नीले रंग के साथ प्रकाश और तेज हो अर्थात् चमक हो तो नीली आभा फैलती है और यह आभा शान्त वातावरण के निर्माण में सहायक होती है। हम नीली रोशनी पसंद करते हैं, लाल रोशनी नहीं। लाल रोशनी में तो संकट है।

नीले रंग में गहराई का बोध है। इस गहराई के साथ असीम, शान्ति तथा रहस्य का बोध भी जुड़ा हुआ है। इस रंग में जितना फैलाव या व्याप्ति है, वह इस रंग के आकर्षण का मुख्य कारण है। निश्चित ही आकाश इसका प्रमाण है और जलाशयों में भी यह रंगत देखी जा सकती है। बहते जल में नहीं, अपितु गहरे शान्त और स्वच्छ जल में (यदि तल दिखाई दें, पानी पारदर्शी हो तो) प्रकाश में, नीली रंगत झलमलाती दिखलाई देती है।

पीला रंग

श्वेत और काले रंग को छोड़ दें तो मूल रंगों में (Primary colours), लाल नीला तथा पीला ये तीन रंग माने जाते हैं। ये तीनों रंग भड़कीले होते हैं। इस में भी लाल रंग सब से अधिक और पीला रंग सब से कम भड़कीला होता है। श्वेत रंग के बाद पीले रंग का मूल्य अन्य रंगों की अपेक्षा अधिक होता है। वैसे प्रकाश चमकदार होता है और सूरज की चमक का क्या कहना? प्रकाश की किरणें (सूरज के) श्वेत ही मानी गई हैं। किन्तु सूरज की किरणें यदि मंद हों तो वे फिर पीली दिखलाई देती हैं। पीली धूप हमें अच्छी लगती है। श्वेत रंग में प्रकाश का फैलाव है, उसी तरह पीत रंग में भी यह व्याप्ति है– कुछ मंद मात्रा में। बिहारी ने प्रभात की पीली धूप का वर्णन उत्प्रेक्षा के रूप में किया है। दोहा इस प्रकार है :–

> सोहत ओढ़ै पीतु पटु स्याम सलौने गात।
> मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु पर्‌यौ प्रभात। [१३]

श्याम के सलौने गात (नील वर्ण, जिसे श्याम रंग की रंगत ही कहा गया है) पर पीत वस्त्र, ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो नीलमणियों के पर्वत पर प्रभात की (पीली) धूप पड़ी हो। प्रातःकाल की धूप पीली होती है और वह प्यारी लगती है।

भरत मुनि ने पीले रंग को अद्‌भुत रस का रंग माना है। कहा है– 'पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः' [१४] पीला रंग लाल रंग के समान उष्ण नहीं है, उसी तरह नीले रंग के समान शीत भी नहीं है। यह रंग उत्तेजक नहीं हैं और विषण्ण भी नहीं है। इस रंग में कौतुहल है, जिज्ञासा है। सफेद (श्वेत) रंग को छोड़ दें तो इस रंग में प्रकाश की मात्रा सब से अधिक है। इस प्रकाश के कारण अन्य रंगों की तुलना में यह रंग चमत्कृत करनेवाला रंग है। सुवर्ण पीला होता है और इस पीली आभा से सभी चमत्कृत होते हैं। दीपक की

ज्योत मंद हो तो पीली ही दिखलाई देती है। यही क्यों बिजली का गोला कम पावर का हो तो प्रकाश पीला ही दिखलाई देता है। ट्यूब लाईट का प्रकाश पीला नहीं होता। पीले प्रकाश में (मंद होने के कारण) कोतूहल तथा जिज्ञासा की तृप्ति नहीं होती। यों कहना चाहिए कि मंद प्रकाश के कारण रहस्यमयता (कुछ ज्ञात-कुछ अज्ञात) बनी रहती है और इसीलिए इस रंग का प्रभाव अद्भुत भाव जगाता हो।

गौर वर्ण में पीले रंग की रंगत (Shade) है, ठीक वैसे ही जैसे काले रंग या नीले रंग में स्याम रंग की रंगत पाई जाती है। जैसे स्याम वर्ण शृंगार का रंग तथा कृष्ण या काला भयानक का रंग माना गया है, ठीक उसी तरह गौर वर्ण वीर रस का रंग और पीला रंग अद्भुत रस का रंग माना गया है। भरत मुनि ने कहा है—'गौरो वीरस्तु विज्ञेय:'[15] गौर वर्ण को वीर रस का रंग मानिए। वैसे पीलेपन में कायरता का बोध है। पीला रंग बीमारी का रंग है। जो पीला पड़ जाता है, उसका स्वास्थ्य खराब माना जाता है। इस पीलेपन से गौर वर्ण भिन्न है। जैसे स्याम रंग सुन्दर माना गया है, वैसे ही गोरा रंग भी सुन्दर माना गया है। तुलसी ने तो लिखा है—

स्याम गौर किमि कहौ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।[16]

स्याम हो या गौर हो, दोनों ही सुन्दर हैं। राम स्याम वर्ण के थे और लक्षमण गौर वर्ण के। दोनों की शोभा का वर्णन क्या किया जाय? वाणी के पास आँखें नहीं है और आँखों के पास वाणी नहीं है। (सीता की सखि ने सीता के सम्मुख यह वर्णन प्रस्तुत किया है,)

मिश्रित रंग

मूल रंगों का वर्णन ऊपर किया गया है। इन्हें छोडकर और जितने रंग पाए जाते हैं, उन्हें मिश्रित रंग ही कहना चाहिए। इन मिश्रित रंगों में तीन रंग सब से प्रमुख हैं और इन तीनों को भी हम मूल रंग के समान ही समझते हैं। ये तीन रंग इस प्रकार हैं। हरा रंग (नीला तथा पीला), नारंगी (लाल तथा पीला) और जामुनी या बैंगनी (लाल तथा नीला)। रंगों में तीन ही मूल रंग माने गए हैं—लाल, नीला तथा पीला। इन तीनों के सिवा श्वेत रंग तथा काला रंग अलग है। श्वेत रंग तथा काले रंग को तो हम रंगों की सीमाएँ

मानेंगे । श्वेत एकदम प्रकाश है और काला एकदम अंधकार है। रंग तो वस्तुतः इनके बीच में हैं और इनके बीच में जितने रंग आते हैं, उनमें मुख्य (Primary) रंग तीन ही हैं । इन तीन रंगों से जो मुख्य मिश्रित रंग बनते हैं, वे हैं, हरा, नारंगी तथा जामुनी या बैंगनी । इन तीनों के अतिरिक्त श्वेत और काले रंग को मिलाने से भूरा रंग बनता है । अतः मिश्रित रंगों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रंग चार होंगे । (१) भूरा (२) हरा (३) नारंगी तथा (४) जामुनी या बैंगनी ।

रंगों की आभा या रंगत

रंग के साथ प्रकाश का बोध जुड़ा हुआ है । इस सम्बन्ध में पहले ही कह दिया गया है । इस नाते प्रत्येक रंग का प्रकाश-मूल्य है । इन प्रकाश-मूल्यों के भेद के कारण रंगतों में या रंग की आभाओं में अंतर दिखलाई देगा । अंगरेजी में शेड् (Shade) कहते हैं । शेड् का अर्थ छाया होता है । ब्ल्यू शेड् (Blue Shade) का अर्थ नीले रंग की छाया । हिन्दी में छाया न कहकर आभा कहें । बात एक ही है । आभा में प्रकाश के होने का बोध है । छाया में प्रकाश के न होने का बोध है । इसका विश्लेषण इस तरह हो सकता हे । नीली आभा कहने पर नीले रंग का प्रकाश हुआ । इसी तरह नीली छाया कहने पर प्रकाश में (श्वेत प्रकाश में) नीली छाया दिखलाई देना हुआ । और रंग की दृष्टि से रंगत शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है । एक ही रंग की अनेक रंगतें देखी जा सकती हैं । सौंदर्य बोध की दृष्टि से हम मूल रंगों को उतना पसंद नहीं करते जितना मिश्रित रंगों एवं रंगतों को (रंग की विभिन्न आभाओं को) पसंद करते हैं । रंगतों की संख्या बतलाना कठिन काम है । केवल हम मिट्टी को ही लें, तो इसकी रंगतों के अनेक रूप मिलेंगे । काली मिट्टी से लेकर श्वेत मिट्टी तक (विशेष प्रकार के पत्थर चूर्ण श्वेत होता है और इसे हम रांगोली कहते हैं) मिट्टी में ही कई रंगतें मिल जाएँगी । प्रकृति में रंग नहीं, रंगतें मिलती हैं । रंगतों की संख्या रंगों से अधिक है । हम पत्थर को देखें, तो इसमें भी विभिन्न प्रकार की रंगतें मिलेंगी । साधारण पत्थर से हीरे, मानिक तक सब पत्थर हैं । रंग के साथ उनके गुणबोध (अन्य रूपों में) को भी देखा जा सकता है । केवल रंग को लें तब भी उनकी आभाएँ अलग-अलग मिलती हैं । मिट्टी तथा पत्थर की बात नहीं, प्रकृति में जिन विविध रूपों का दर्शन होता है, उन सब रूपों में जो रंगों के गुणधर्म पाए जाते हैं, वे गुणधर्म सहज रंग हैं । इन सब सहज रंगों को व्यक्त करने के लिए रंगों के उतने नाम भाषा में नहीं है । अतः इन सहज रंगों को रंगत या रंग की आभा कहना चाहिए ।

रंग के साथ प्रकाश-मूल्य जुड़े होने के कारण प्रकाश में जैसे जैसे अंतर बदलता जाता है, वैसे ही रंगों की आभा भी बदलती जाती है। प्रातः काल छः बजे से सायंकाल के छः बजे तक (दिन में बारह घंटों में ही) खुले वातावरण में ही समान प्रकाश नहीं पाया जाता। प्रकाश की मात्रा में अंतर आते रहता है। वह बढ़ता भी है और घटता भी है। बादलों के छा जाने पर दिन में भी अंधकार का वातावरण दिखलाई दे सकता है। आकाश साफ होने पर प्रकाश की मात्रा अधिक रहती है। रात में अंधेरा रहता है। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति में सहज रंग की जो रंगतें पाई जाती हैं, उन पर बदलते प्रकाश एवं छाया का प्रभाव पड़ता रहता है। हम कपड़ेवाले की दुकान पर कपड़ा खरीदने जाएँ, तो वह हमारे सम्मुख कपड़े की अनेक रंगतें प्रस्तुत करता है। टयूब लाइट में (रात के समय) हम कपड़ों की रंगतें देखते हैं, तब भी दुकानदार कहता है कि 'साहब, इस रंग को आप दिन में देखिएगा, और भी बढ़िया दिखलाई देगा।' कपड़े को वह फैलाता है और रंग की आभा इस तरह बिखेरता है (फैलाता है, कहना चाहिए) कि आप उस आभा को तुरत पसंद करने लगते हैं। कहना यह है कि प्रकाश की बदलती मात्रा के अनुसार रंगधर्मों में अंतर आता है।

प्रकाश मूल्य

प्रकाश-मूल्य को रंगों के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया जा सकता है। बिजली के गोलों के प्रकाश की शक्ति को नापा जाता है। २५, ४०, १०० आदि विविध पावर के गोले होते हैं। इनसे बिजली की ताकत को नापा जाता है। अधिक पावर का गोला हो तो प्रकाश अधिक होगा और कम पावर हो तो प्रकाश कम होगा। बिजली को न देखकर हम सहज प्रकाश को देखें (दिन के प्रकाश को) तो उस प्रकाश में भी रंगों के प्रकाश मूल्य को पहचान सकते हैं। सहज प्रकाश श्वेत रंग का होता है। १०० पावर के विविध रंगों के गोलों को ऑन (लगा कर) कर देखें तो एक ही पावर के गोले में रंगभेद से प्रकाश मूल्यों में अंतर दिखलाई देगा। इसी तरह दिन में हम चश्मे के काँच के रंग बदलें तो प्रकाश मूल्यों में उसी तरह अंतर दिखलाई देगा।

एक ही रंग की अनेक रंगतें हो सकती हैं। इनके ग्रेड या दरजे बनाने के लिए रंग के मंद (Light) तथा गहरे (Dark) स्वरूपों को देखा जा सकता है। गहरे रंग का प्रकाश मूल्य एक मान लें और मंद रंग का प्रकाश मूल्य दस मानें तो एक ही रंग की दस रंगतें होंगी। इन दस रंगतों को प्रकाश मूल्य के रूप में

इस तरह लिख सकते हैं : पीत आभा$_{1}$, पीत आभा$_{2}$, पीत आभा$_{3}$...पीत... आभा$_{10}$। यदि मूल रंगों में पीले रंग का प्रकाश मूल्य लाल रंग से अधिक है, तो इस स्थिति में लाल आभा$_{10}$ और पीत आभा$_{1}$ दोनों में प्रकाश मूल्य की दृष्टि से पीत आभा$_{1}$ का प्रकाश मूल्य अधिक होगा। अर्थात् मंद लाल रंग (Light red colour) से गहरे पीले रंग (Dark yellow colour) का प्रकाश मूल्य अधिक होगा। इसे क्रम से इस तरह लिखा जा सकता है :–

पीत आभा$_{10}$	(मंद Light रंग)	प्रकाश अधिक होगा।
पीत आभा$_{9}$	| |	| |
पीत आभा$_{8}$	| |	| |
....	| |	| |
....	| |	| |
पीत गाभा$_{1}$	(गहरा Dark रंग)	प्रकाश कम होगा।

इसी तरह प्रत्येक रंग की आभाओं को लिखा जा सकता है। दो रंगों की आभाओं की तुलना इस प्रकार की जा सकती है :–

लाल आभा$_{10}$ (मंद Light रंग), पीत आभा$_{1}$
(गहरा Dark रंग)

इसी तरह :–

नीली आभा$_{10}$ (मंद Light रंग), लाल आभा$_{1}$
(गहरा Dark रंग)

इस तुलना में हम ये देखेंगे कि जिस रंग का मूल्य अधिक होगा, उस रंग की गहरी छाया (गहरा रंग), कम मूल्यवाले रंग की मंद छाया से अधिक होगी। अर्थात् गहरे लाल रंग का प्रकाश मंद नीले रंग के प्रकाश से अधिक होगा। नीले रंग का प्रकाश मूल्य लाल रंग के प्रकाश मूल्य से कम है।

रंगों के प्रकाश मूल्य के साथ सौंदर्य बोध की भावना जुड़ी हुई है। हम रंग नहीं, रंग की आभा पसन्द करते हैं। वस्तुतः जिसे हम रंग कहते हैं, वह रंग हमारी कल्पना का भाग होता है। व्यवहार में सदैव रंगत या आभा होती है। जब भी हम किसी रंग को देखेंगे, उसके साथ उस समय का प्रकाश (प्रकृति में विद्यमान) अवश्य होगा। रंग का अपना प्रकाश तथा प्रकृति में विद्यमान प्रकाश दोनों मिलकर रंगत बनते हैं। जब भी हम किसी रंग को अनुभव

करते हैं, तो उसी एक रंग को भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न भिन्न रूप में अनुभव करने के कारण हम उस रंग को अपनी कल्पना में (सामान्य धारणा के रूप में) स्थित करते हुए उसकी रंगत को समय विशेष के प्रकाश के अनुसार अनुभव करते हैं। संक्षेप में रंगत व्यवहार में प्रचलित है और रंग सामान्य बोध का परिचायक है। अस्तु।

रंगों के नाम

रंगों के सौंदर्य बोध पर विचार करते समय भाषा में प्रयुक्त रंगों के नाम पर विचार करना चाहिए। सच्चाई यह है कि सामान्य रंग के अर्थ में भाषा में तीन ही रंगों के नाम मिलते है। ये तीनों ही रंग मूल रंग हैं। ये तीन मूल रंग सामान्यवाची हैं। अर्थात् रंग का सामान्य अर्थ देनेवाले हैं। और ये हैं, पीला, लाल और नीला। ऊपर इन तीनों रंगों का विस्तार से विवेचन किया गया है। अन्य जितने रंग पाए जाते है, उनके लिए सामान्यवाची रंग का अर्थ देनेवाले शब्द भाषा में नहीं है। अन्य नामो के साथ पदार्थ या वस्तु का नाम है। अर्थात् प्रकृति में विद्यमान किसी रूप का नाम है, जिनके आधार पर रंगत (रंग की आभा) के अनुसार नामकरण हुए हैं। यहाँ तक कि मिश्रित रंगों के नामकरण में रंगत का आधार (भाषा में) मिलता है।

उदाहरणार्थ :–

नारंगी : नारंगी, फल का नाम है, इस आधार पर रंग का नाम है। कबीर का कहना था कि भाषा में भी कितनी गड़बड़ है, जो रंगीन है, उसे नारंगी कहते है। 'रंगी को नारंगी कहे' (देख कबीरा रोया)।

हरा : हरियाली का रंग हरा है। हरीतिमा चारों ओर प्रकृति में विद्यमान है। अब यह सोचना चाहिए कि हरे रंग के कारण हरियाली का नामकरण हुआ या हरियाली के कारण हरा रंग कहा गया। मुझे लगता है, हरियाली के कारण हरे रंग का नामकरण हुआ।

जामुनी : जामुन फल का नाम है। इस रंग की रंगत के कारण रंग का नामकरण हो गया।

बैंगनी : बहुत से लोग जामुनी न कहकर बैंगनी कहते हैं। (दोनों एक मानते हैं) बैंगनी कहे, तो यह बैंगन की रंगतवाला रंग हुआ।

ये प्रमुख मिश्रित रंग है। इन रंगों पर भी विस्तार से भावबोध की दृष्टि से लिखा जा सकता है। व्यवहार में इनके प्रति सौंदर्य बोध की दृष्टि से (रंगत होने के कारण) आकर्षण ज्यादा है। विस्तार भय से अब नहीं लिख रहा हूँ फिर भी चलते ढ़ंग से हरे रंग के सम्बन्ध में यह कहना चाहता हूँ कि हरा रंग प्रकृति का सब से प्यारा रंग है, जिसमें सबसे अधिक ताजगी है। ताजगी ही नहीं, जीवन है तथा तरावट है। इससे आँखों को रोशनी मिलती है और जी प्रसन्न होता है। इस हरे रंग की सब से बड़ी विशेषता यह है कि न यह अधिक उष्ण है (लाल रंग की तरह) और न ही अधिक शीत (नीले रंग की तरह)। यह समशीतोष्ण रंग है। आँख न अधिक गरमी चाहती है और न अधिक शीतलता। प्रकृति की भी खूबी देखिए, जिस रंग से आँख को रोशनी मिलती है, वह रंग सब से अधिक व्यापक रूप में विद्यमान है। किसान जब लहलहाते खेतों को देखता है, तो उसका जी कितना प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नता के कारण 'हरा' शब्द प्रसन्नता का अर्थ देने लगा है।

कुछ और रंगों के नाम :–

गुलाबी : गुलाब के पुष्प का रंग, गुलाबी रंग है।

गंदुमी : गेहुँए रंग का। गेहूँ (अनाज) का रंग जैसा होता है, वैसी रंगत का।

गंधकी : गंधक (खनिज पदार्थ) के रंग की रंगत का (पीत वर्ग की एक आभा)।

गेंदई : गेंदा फूल का रंग।

गेरुआ : गेरु (खान से निकलनेवाली मिट्टी, कुछ लाल आभा से युक्त) के रंगत का रंग।

केसरी : केसर (पुष्प के फूल का सींका जो बहुत सुगंधित होता है)। केसर बहुत कीमती है। इसके रंग की रंगत के कारण ही केसरी रंग हो गया है।

इसी तरह रंगों के अनेक नाम पदार्थों या वस्तुओं के नामों की रंगत के साथ जुड़े हुए हैं। विशेष रूप से पुष्पों, धातुओं, पौधों आदि के नाम से रंगों की रंगतों का परिचय हम देते हैं। रजत वर्ण (चांदी का रंग), कनक वर्ण (सोने का रंग), हीरक वर्ण (हीरे का रंग), ताम्बई वर्ण (ताम्बे का रंग), कत्थई रंग (कत्थे का रंग), चम्पई रंग (चम्पा पुष्प का रंग), नासी रंग (नास, सूंघने के द्रव्य का रंग)। खोजने पर और बहुत रंग मिलेंगे।

हम देखते हैं कि रंगो के नामकरण में रंग नहीं, रंगतों का उपयोग अधिक है। इन सब रंगों के प्रकाश मूल्यों को परखा जा सकता है और उनके प्रभाव को तदनुसार पहचाना जा सकता है। सामान्य रूप में हम मंद रंगों को, हलके रंगों को पसन्द करते हैं। इसका कारण यह है कि मंद रंगों का प्रकाश मूल्य अधिक होता है। दूसरे मंद रंगों में भी मिश्रित रंगतों को अधिक पसन्द किया जाता है। मिश्रित रंगों में भड़कीलापन, मूल रंगों की तुलना में कम होता है। इसी तरह हम जिन रंगतों को पसन्द करते हैं, उनकी पसन्दगी में हमारा ध्यान प्रकृति में विद्यमान रंगों पर रहता है।

रंगों की व्याप्ति में नयन सुख है।

सौंदर्यबोध की दृष्टि से रंगों के सम्बन्ध में निर्णय देना बहुत कठिन है। सब की अपनी-अपनी रुचि है। इस पर भी सामान्य संकेत दिए जा सकते हैं। संगति तथा वैषम्य का बोध रंगों में भी पाया जाता हैं। संगति तथा विषमता का बोध रंगों के प्रकाश मूल्य के आधार पर होता है। श्वेत तथा काले रंग के प्रकाश मूल्यों में सबसे अधिक विषमता है। जामुनी रंग तथा काले रंग में संगति है क्यों कि दोनों के प्रकाश मूल्यों में बहुत अन्तर नहीं है। इसी तरह अन्य रंगों में भी संगति तथा विषमता देखी जा सकती है।

प्रकृति में जो रंग अधिक व्याप्त हैं, उन रंगों की आभाओं के हम अधिक अभ्यस्त हैं। उदाहरण के लिए मिट्टी का रंग, आकाश का रंग, एवं पौधों के रंग प्रकृति में अधिक व्याप्त है। जिस रंग का फैलाव अधिक होगा, उसके प्रकाश मूल्य से हमारी आँखें अधिक अभ्यस्त होंगी। कल्पना कीजिए कि प्रकृति हरी न होकर लाल लाल है, तो उस स्थिति में हमें क्या अनुभव होगा।? (ऐसा नहीं है फिर भी कल्पना के आधार पर वस्तुस्थिति का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है, इस नाते) अनुभव यह होगा कि हम लाल रंग को सीमित मात्रा में तो देख सकते हैं किन्तु व्यापक रूप में नहीं देख सकते। हमारी आँख इसको सह नहीं सकती। जो आँखों को प्रिय नहीं, वह रमणीय कैसे? इसका अर्थ यह नहीं कि लाल रंग सौंदर्य की दृष्टि से उपयुक्त नहीं। उपयुक्त है, किन्तु व्यापक अर्थ में नहीं है। लाल रंग पृष्ठभूमि का रंग नहीं हो सकता। चिह्नों और संकेतों का रंग हो सकता है। जो रंग पृष्ठभूमि में (Back ground) होते हैं, उनमें व्याप्ति होती है और उन रंगों का फैलाव अधिक होता है। मिट्टी का रंग अधिक व्यापक है। पैरों तले मिट्टी है और सिर पर आकाश है। आकाश का नीला (यह नीला न

होकर, नीली आभा है, इसे आसमानी कहना चाहिए या आकाशी रंग) और मिट्टी का स्याह या मटमैला रंग ये दोनों पृष्ठभूमि की दृष्टि से सुन्दर माने जाएंगे। हम इसके बाद जिस रंग को अधिक व्यापक रूप में देखते हैं, वह हरा रंग है। पृष्ठभूमि में मिट्टी का रंग, पर्वतों का रंग (पर्वतों का रंग, मिट्टी पत्थरों का रंग ही है) है और उस पर हरीतिमा (रंगों की संगति की दृष्टि से) दोनों आपस में मेल खाते हैं। धरती के रंगों के साथ आकाश के रंगों को देखें तो अनेक रंगतें दिखलाई देंगी। आकाश में नीला रंग तो है ही (यह शून्य का रंग है) किन्तु, इसके साथ साथ मेघों की विभिन्न आभाएं देखने मिलेंगी। जिन्होंने मेघमाला के बदलते रंगों को घण्टों निहारा है, निश्चित ही, उनके सौंदर्य बोध में वृद्धि हुई है। कालिदास ने मेघदूत में इन रंगतों का बहुत सहज ढ़ंग से वर्णन किया है। मेघदूत में मेघ की जिन रंगतों का वर्णन है, उसके आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने सम्पादित ग्रंथ मेघदूत (सटीक) के परिशिष्ट १ तथा २ में 'मेघशास्त्र' तथा 'मेघों का वैज्ञानिक विवेचन' दो लघु निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में मेघ की बदलती आभाओं का सकारण एवं वैज्ञानिक विवेचन है। विस्तार भय से उदाहरण नहीं दे रहा हूँ। बात यह है कि आकाश में जो रंगतें हम देखते हैं, वे रंगतें मेघ से सम्बन्धित हैं। आकाश में सभी प्रकार के रंग देखने मिलते हैं। दूसरी बात आकाश के रंगों में आभा अधिक होती है। साथ ही आकाश के रंगों में ताजगी, चमक तथा रंगतों की व्याप्ति होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पृष्ठभूमि में आकाश है, जिसमें धवलिमा अधिक (प्रकाश के कारण ही) व्याप्त रहती है। मेघ धवल से लेकर स्याम ही नहीं अपितु अन्य रंगों की रंगतों से भी युक्त होते हैं। आकाश के रंगों को देखकर रंगों की संगति तथा विषमता की पहचान में सहायता मिलती है। आकाश के रंग, सहज प्रकाश मूल्यों से (प्राकृतिक होने के कारण) युक्त होते हैं। संक्षेप में आकाश में अधिक व्यापक रंग मेघ का रंग (नीले रंग को छोड़कर) है। और मेघ का व्यापक रंग धवल से स्याम तक की अनेक आभाओं से युक्त है। इनके सिवा और रंग दिखलाई देते हैं, वे अधिक व्यापक तो नहीं होते किंतु तुरत ध्यान आकृष्ट करते हैं। आकाश में अन्य रंगों के दिखलाई देने का कारण सूर्य के प्रकाश की किरणों का रंगों में परिवर्तन है। अस्तु।

सौंदर्य बोध की भावना हममें व्याप्त रंगों के अवलोकन से जागती है। व्याप्त रंग ही मन में स्थायी संस्कार बनाते हैं। जो रंग अधिक व्याप्त है, वह रंग उतना ही प्यारा है। भड़कीले रंग अधिक व्याप्त नहीं है, इसीलिए भड़कीले रंग शीघ्र ध्यान को आकृष्ट भले ही कर लें किंतु इन रंगों के प्रकाशमूल्य

कम होने के कारण हमारे मन पर इनका प्रभाव देर तक बना नहीं रहता। हमें मिट्टी, पौधे तथा आकाश के रंगों के साथ साथ मेघ एवं हरियाली के रंग अधिक पसंद आते हैं। हमारी आँखें इन रंगों से अधिक अभ्यस्त है।

संदर्भ

१. रहीम के दोहे, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा द्वारा प्रकाशित, दोहा संख्या ७७, पृ. ८।

२. आँसू, जयशंकरप्रसाद (एकादश संस्करण), पृ. २४।

३. नाटचशास्त्र, भरत मुनि, सम्पादक पं. केदारनाथ, अध्याय ६, श्लोक सं. ४३ पृ. ९५।

४. बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ९५

५. नाटचशास्त्र, भरत मुनि, संपादक–पं. केदारनाथ, अध्याय ६, श्लोक सं. ४३, पृ. ९५।

६. –वही– अध्याय ६, श्लोक सं. ४४, पृ. ९५।

७. रामचरितमानस, बालकांड, १–३२७।

८. नाटचशास्त्र, भरत मुनि, सम्पादक पं. केदरनाथ, अध्याय ६, श्लोक सं. ४३, पृ. ९५।

९. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या ४२।

१०. केशव कौमुदी, प्रथम भाग सं. लाला भगवानदीन, पाँचवा प्रकाश, छद सं. ९ से १३।

११. नाटचशास्त्र, भरत मुनि, संपादक पं. केदरनाथ पाण्डेय, अध्याय ६, श्लोक सं. ४४ पृ. ९५।

१२. –वही–अध्याय ६, श्लोक सं. ४४ पृ. ९५

१३. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या, ६८९।

१४. नाटचशास्त्र, भरत मुनि, सम्पादक पं. केदारनाथ पाण्डेय, अध्याय ६, श्लोक सं. ४४ पृ. ९५।

१५. –वही– अध्याय, ६, श्लोक सं. ४४ पृ. ९५।

१६ –रामचरितमानस, बालकाण्ड, २–२२९।

○ ○

आकार

गोस्वामी तुलसीदासजी की चौपाई है—'छिति जल पावक गगन समीरा'। इस चौपाई में पृथ्वी, आप, तेज, आकाश तथा वायु सभी आ जाते हैं। आकार की दृष्टि से यदि इन सब पर विचार करें, तो आकार का सम्बन्ध पृथ्वी मात्र से है। अन्य जो महाभूत हैं, उनमें किसी का आकार नहीं होता। आकाश तो सर्वत्र है। ग्रह, नक्षत्र सभी आकाश में विराजमान हैं। हमारी धरती आकाश में स्थित है। आकाश के बाद वायु को देखें, तो इसका भी कोई आकार नहीं है। गतिशील वायु को हम पवन या समीर कहते हैं। पवन या समीर को हम अनुभव करते हैं (स्पर्श संवेदना से) किन्तु देख नहीं सकते। तेज तो गुणधर्म है। तेज का आकार नहीं। तेज दृश्यमान है किन्तु वह आकार की दृष्टि से व्यापक है। इसी तरह जल का भी कोई आकार नहीं है। आकार का बोध हमें पृथ्वी मात्र में होता है। ऐसा होने पर भी धरती या मिट्टी के आकारों को छोड़कर अन्य महाभूतों के आकारों के संस्कार हमारे मन में उनके गुण धर्मों के कारण बने हुए हैं और उन गुणधर्मों को धरती के आकारों में हम अनुभव करते रहते हैं। सभी आकार दृश्यमान हैं इसी तरह सभी आकारों का अस्तित्व है। आकारों की सीमाएँ हैं। आकारों में इकाई है। आकारों में पंच-

महाभूत विद्यमान रहते हैं किन्तु गोचर रूप में तथा अस्तित्व में हम धरती को ही (मिट्टी को ही) प्रमुख रूप से अनुभव करते हैं। मिट्टी के ही आकार अन्य महाभूतों के गुणधर्मों को अपनें में आत्मसात् किए हुए हैं। ये अन्य गुणधर्म अपने अपने सहज बोध को (आकारों में) गरिमा प्रदान कर देते हैं। इनको व्यक्त करने के लिए हम आकारों के साथ इस प्रकार के (अन्य महाभूतों के गुणधर्मों के) विशेषण जोड़ते हैं। इन विशेषणों में ही आकार का बोध हमें हो जाता है। आकार में समग्रता, इकाई और इन्द्रिय बोध (विशेष रूप से दृश्य-संवेदना का) होता है। इन आकारों के प्रति हमारे मन में सौंदर्य बोध के जो संस्कार बनते-बिगड़ते रहते हैं, उनका स्थूल विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आकाश

आकाश का आकार नहीं है। किन्तु आकार की व्याप्ति आकाश में होती है। अत: आकार की सीमाओं के परिचय में तथा आकार के बृहत् रूपों में आकाश को अनुभव किया जाता है। आकाश के साथ भाषा में हम जिन विशेषणों का प्रयोग करते हैं, उनमें शून्य, विशाल, बृहत्, भव्य, विराट्, अनन्त, असीम आदि प्रमुख हैं। ये सारे विशेषण ऐसे हैं, जो आकाश के आकार को व्यक्त करते हैं।

आकारों को नापा जाता है। इनकी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई सब की पैमाईश होती है। आकाश तो ऐसा है, जिसके साथ कोई पैमाईश काम नहीं आती। अत: पैमाईश के अतिरेकी शब्दों में आकाश के गुणधर्म पाए जाते हैं। शून्य का आकार नहीं होता। वह बिन्दु भी है और बृहत् रूप में आकाश भी है। विशाल है, बृहत् है (विस्तार तथा फैलाव है) विराट् है (बडे से बड़ा आकार आकाश है), अनन्त तथा असीम है। आकाश का न कोई अन्त है न कोई सीमा है। संक्षेप में आकाश के ये गुणधर्म आकार की सीमाओं का बोध कराने में सहायक होते हैं। यह वह पृष्ठभूमि है, जिसमें आकार स्थित है, आकाश के साथ, आकार से सम्बन्धित जो विशेषण जुड़े हुए हैं, वे विशेषण ऐसे हैं, जिनके आधार पर अन्य आकारों की पहचान में सहायता मिलती है।

दृष्टि की सीमा आकाश तक पहुँचती हे। आकाश में हम क्षितिज देखते हैं। क्षितिज वृत्ताकार प्रतीत होता है। आकाश का यह शून्य रूप है। क्षितिज हमारे दृष्टिपटल की सीमा को आकाश का आकार प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों

में क्षितिज आकाश के आकार की दृश्य-संवेदना की सीमा है। भौतिक शास्त्र इस सम्बन्ध में ठीक और यथार्थ परिचय दे किन्तु सहज सौंदर्य बोध की दृष्टि से आकारों में क्षितिज का महत्त्व सभी कलाकार जानते हैं। क्षितिज के आधार पर अन्य आकारों की दूरी का ज्ञान होता है।

जल

जल का जैसे रंग नहीं होता, वैसे ही आकार भी नहीं होता। पृथ्वी पर जल की मात्रा, धरती के पृष्ठ भाग से अधिक है। धरती पर सागर के रूप में जल का आकार है। सागर हमें आकार के रूप में कैसे दिखलाई देगा? क्षितिज तक, उसकी सीमा दिखलाई देगी। अथाह, गंभीर, अगाध, मर्यादित, समतल धरती की आकृति का सहज वृत्ताकार का रूप लिए तथा धरती पर वर्तमान सब आकारों से अधिक व्यापक और विशाल। सागर को छोड़कर जल को अन्य आकारों में भी देखा गया है। इनके अनेक नाम हैं। झील, नदी, तालाब, सरोवर, कुँआ, जल-प्रपात आदि। जल को आकार धरती ने दिया है। जल एक ही है। धरती के विभिन्न आकारों में जल के वर्तमान रहने के कारण, नाम अलग-अलग हो गए हैं। तालाब में भी जल है और नदी में भी जल है। भेद आकारों में है। तालाब का पानी स्थिर है। नदी का पानी गतिशील है। तालाब की तुलना में नदी निश्चित ही लम्बी होगी। कुँए में भी जल है। कुँए का आकार निश्चित ही तालाब तथा नदी के आकारों से एकदम भिन्न है। कुँए में बाहरी आकार (वृत्ताकार हो, आयताकार हो या और कोई आकार हो) ऐसा होगा जो जल के अन्य आकारों से दृष्टिपटल की सीमा में तुरत आने जैसा होगा। कुँए का बाहरी आकार गहराई की तुलना में छोटा होता हैं। यह तो भूगोल का विषय है किन्तु कहना यह है कि जल के आकारों के विभिन्न नाम हैं। बूँद, बरसती धारा, लहर आदि सब जल ही हैं। केवल आकार बदलने से इनके नाम अलग अलग हो गए हैं।

पावक और पवन

पावक का सबसे बृहत् और मूर्त रूप सूर्य हैं। प्रातःकाल उदित होते सूर्य को हम देखें तो वह आग का गोला दिखलाई देता है। सूर्य में इंधन क्या होगा? हम नहीं जानते। किन्तु धरती पर आग इंधन के आकारों में दिखलाई देती है और इनके विविध नाम हैं। आग का जाग्रत तथा गतिमान रूप ही दिखलाई देता है। इंधन में पावक सदैव सुप्त रूप में मौजूद रहता हैं। अवसर पाकर

वह दृश्यमान होता हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—'एकु दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।'[२] पावक इंधन में (इंधन के आकार में) वर्तमान है। पावक को हम इंधन में विभिन्न आकारों में देखते हैं। प्रकाश के जितने श्रोत हैं, उनमें पावक है और उनके विविध आकार हैं। पवन को हम गति के आधार पर पहचानते हैं, किन्तु उसका आकार दृश्यमान नहीं है।

मूलतः आकारों के साथ धरती जुड़ी हुई है। धरती ने ही जल तथा पावक को आकार देने में सहायता दी है। पवन को हम वेग, संचार तथा गति के रूप में (धरती के आकारों में) अनुभव करते हैं। अस्तु।

धरती के आकार

धरती के आकारों को हम ठीक आकार के अर्थ में ग्रहण करते हैं। इनको हम जड़ तथा चेतन दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। जड़ आकारों में अनेक हैं। किसी आकार की पहचान के लिए हमें सामान्य रूप में लम्बाई, चौड़ाई तथा गहराई आदि का ज्ञान होना चाहिए। इसके साथ साथ यह भी ज्ञात हो कि आकार की इकाई क्या है? आकार के साथ दो बातें मुख्य रूप से जुड़ी हुई हैं। इकाई तथा आयाम। वस्तुओं के नामकरण में वस्तु के आकार की इकाई होगी। इसी तरह जब वस्तु का आकार देखा जाएगा, तो उस इकाई को (जिसे वस्तु कहा गया है) आयामों के अनुसार (लम्बाई, चौड़ाई, गहराई) देखा जाएगा। पैमाइश होगी और तदनुसार आकार का नामकरण होगा। हम सब आकारों को नापते नहीं है। किन्तु आकारों को नापा नहीं जा सकता, ऐसी बात नहीं है। गणित के जानकार तथा भौतिकशास्त्री ने नापने के अनेक उपकरण बनाए हैं और वे सब आकारों की इकाई तथा आयाम को बतला सकते हैं। इकाई और आयाम जान लें तो बाद में फिर संख्या रह जाती है। संख्या के आधार पर मात्रा घट बढ़ सकती है, किन्तु वस्तु वही रहती है।

आकार पर सौंदर्य बोध की दृष्टि से विचार करना है। इस दृष्टि से विचार करने के लिए अन्य रूप में, ज्ञान की अन्य शाखाओं का बोध हो, तो वह उपयोगी ही होगा। यहाँ आकारों पर विचार करते समय सामान्य रूप में धरती के आकार हमें जिस रूप में दिखलाई देते हैं और देखने के बाद उनके हमारे मन में जो संस्कार बनते-बिगड़ते रहते हैं, उसी पर विचार किया जा रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर आकार हमें देखने पर कैसे प्रतीत होते हैं, यह देखना चाहिए।

देखने में आँख का उपयोग होता है। यह सीधी बात है। किन्तु आँख वस्तुतः आकारों को जिस रूप में देखती है, आकार ठीक वैसे नहीं होते। आँख के सामने कोई भी आकार, जब भी होगा, उसका एक परिप्रेक्ष्य लिए हुए होगा और दूसरे आकार के साथ दूरी जुड़ी हुई है। हम किसी आकार को कितनी दूर से देख रहे हैं और आकार विशेष का हमारे सामने का (दृष्टिपटल की सीमा में आ सके इतना) परिप्रेक्ष्य क्या है? ये दोनों ही, आकार के प्रति हमारे मन में संवेदना जगाएंगे।

परिप्रेक्ष्य

हम पर्वत को दूर से देखते हैं। पर्वत हमें सुंदर लगता है। निकट जाने पर हमें पत्थर दिखलाई देंगे। यह दूरी का परिणाम है। ठीक यही स्थिति चाँद के सम्बन्ध में कह सकते हैं। जो लोग चाँद पर पहुँच गए हैं या जिन्होंने चाँद के यथार्थ चित्रों को देखा है; (वैज्ञानिकों ने यह सब बतलाया है।) संभवतः वे चाँद को सुंदर मानना छोड़ दें और कवियों के उपमान को झूठा कहना शुरू कर दें। इधर ऐसी चर्चा सुनने में आई है। यह चाँद को देखने का एक परिप्रेक्ष्य हुआ। इस तुलना में हम चाँद को देखें, तो हमें चाँद, धरती से देखने पर सुंदर प्रतीत होता है। कवियों की बात छोड़ दें और प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में राका-रजनी में चाँद को देखें, तो चाँद प्यारा लगेगा। वैसे कुछ लोग बिना देखे भी परम्परित रूप में किसी को सुंदर कहने लग जाते हैं। चाँद के ही सम्बन्ध में (इस उपमान के अधिक प्रचलित होने के कारण) कहा गया है— 'देखे मुख भावे, बिन देखे ही कमल चंद'। मुख तो देखने पर पसंद आता है, कमल तथा चाँद बिना देखे ही पसंद आ जाते हैं। कहना यह है कि देखने पर भी दूरी के अंतर से आकार के परिप्रेक्ष्य में अंतर आता है। ऐसी स्थिति में आकारों के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि हम जो देखते हैं, वह आकार का वह अंश होता है, जिसके साथ दोनों बातें एक साथ जुड़ी हुई हैं — दूरी तथा पृष्ठ भाग (सामने दिखलाई देनेवाला) का आयाम। गहराई को हम देख नहीं सकते।

आकार देश में स्थित होते हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि 'देश' शब्द का प्रयोग मैंने आकार को आधार प्रदान करनेवाले भाग के अर्थ में किया है।

कांट तो आकारों को देश से भिन्न नहीं मानता। देश में जो कुछ हैं, वे सब आकार ही हैं। कांट ने लिखा है :– 'देश बाह्येन्द्रिय के द्वारा गृहीत सब अवभासों के आकारमात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् वह इंद्रियग्राह्यता की विषयगत शर्त है, केवल जिसके अधीन हमारे लिए बाह्य प्रत्यक्ष संभव है। क्योंकि, अब तो यह निश्चित ही है कि विषयी की ग्रहणशीलता, विषय के द्वारा प्रभावित होने की इसकी क्षमता इन विषयों के सभी प्रत्यक्षों की अवश्य-मेव पूर्वगामिनी है, अतः यह बात स्वयं समझ में आ जाती है कि सब अवभासों का आकार किस प्रकार सब वास्तविक प्रत्यक्षों के पहले ही उपलब्ध हो सकता है, और इसलिए मानस में अनुभव के पूर्व इसकी सत्ता हो सकती है, एवं एक शुद्ध प्रत्यक्ष के रूप में, (जिस में सब विषय निर्धारित होने चाहिए) इसमें अनुभव के पूर्व ऐसे तत्त्व (या सिद्धांत) अंतर्विष्ट हो सकते हैं, जो इन विषयों के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। इसलिए हम यह जो देश के सम्बन्ध में और वितत वस्तुओं इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं, तो वह केवल मानवीय दृष्टिबिंदु से कह सकते हैं। परंतु यदि हम उस विषयीगत शर्त या प्रतिबन्ध से, जिसके अधीन रहकर ही हम को बाह्य प्रत्यक्ष उपलब्ध हो सकता है, हट जाएँ (और यह प्रतिबन्ध है हमारी बाह्य विषयों के द्वारा प्रभावित होने की संभाव्यता), तो हमारे लिए देश की प्रत्युस्थापना का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। वस्तुओं के साथ इस विधेय का कथन केवल उस सीमा तक होता है जिस सीमा तक वे हम को प्रतीत होती हैं, अर्थात् जहाँ तक वे इंद्रियग्राह्यता के विषय हैं। इस ग्रहणशीलता का स्थायी आकार जिसको हम इंद्रियग्राह्यता कहते हैं, उन सब सम्बन्धों की एक अनिवार्य शर्त है, जिनमें विषयों का हमारे बाहर स्थित रूप में प्रत्यक्ष होता है और यदि इन विषयों का अपहार कर लिया जाता है, तो एक शुद्ध प्रत्यक्ष बच रहता है जो देश के नाम को वहन करता है।'[३] कांट का यह विवेचन दार्शनिक है। वह अनुभवातीत संवेदन-शास्त्र के सम्बन्ध में लिखते समय 'देश' को समझा रहा है। हम अधिक गहराई में न जाएँ और केवल आकार की दृष्टि से देखें तो कांट का यह कथन इस दृष्टि से उपयोगी है कि आकार की इकाई को हम देश में स्वतंत्र रूप से अनुभव कर सकें। देश में एक नहीं अनेक आकार हैं और सब एक दूसरे के पार्श्व में स्थित हैं। हम ने आकारों को अलग-अलग रूप में देखा है और उनका नामकरण किया है। अतः आकारों के नाम के साथ, उस आकार की इकाई को अलग कर सकें। आकार की स्वतंत्र पहचान होना आवश्यक है।

आकारों को देखने के बाद जब हम किसी आकार की स्वतंत्र इकाई को देख लेते हैं, तब फिर उसके साथ परिप्रेक्ष्य और आयाम जुड़ जाते हैं। हम आकार को कितनी दूर से देख रहे हैं और देखने का कोण क्या है? इस आधार पर ही हमारे मन में आकारों के प्रति देश-काल के अनुसार सौंदर्य बोध की भावना जग सकती है। हम आकारों को एक साथ सम्बद्ध कर भी देखते हैं और उन्हें अलग-अलग रूप में भी देखते हैं। सम्बद्ध कर देखने से परिप्रेक्ष्य समझ में आता है और अलग-अलग देखने से स्वतंत्र पहचान में सहायता मिलती है। जो वस्तु हस्तामलक हो सकती है, उसे हम हाथ में लेकर (स्वतंत्र आकार को) उलट-पलट कर, सभी परिप्रेक्ष्यों में देख सकते हैं। किन्तु जो वस्तु हस्तामलक नहीं, उसका आकार देखने के लिए हमें वस्तु के पास जाना पड़ेगा। उसको अनेक परिप्रेक्ष्यों में निकट से तथा दूर से देखना पड़ेगा तभी आकार का ठीक-ठीक बोध हमें होगा।

परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए (सौंदर्य बोध की दृष्टि से) अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। बिहारी का एक दोहा है :–

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान,
धर्‌यो मनौ हिय-धर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान। [४]

इस दोहे में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को आकार की दृष्टि से देखें। सीधा अर्थ तो यह है। गोपाल ने कानों में मकर की आकृति के कुंडल पहने हैं और वे शोभा दे रहे हैं। आकार की दृष्टि से इसका विश्लेषण करें, तो कुछ विचित्र प्रतीत हो सकता है, किन्तु इस विश्लेषण से परिप्रेक्ष्य तथा आयामों को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है, इसीलिए विस्तार से अर्थ लिख रहा हूँ। शोभा में सौंदर्य है। इसी को स्पष्ट करना है।

आकार देश में स्थित होते हैं और एक दूसरे के पार्श्व में रहते हैं। एक आकार को अन्य आकारों से सम्बद्ध कर देखना आकार को परिप्रेक्ष्य में देखना है। प्रस्तुत दोहे में मुख्य बात–'सोहत कुंडल कान' है। कुंडल का आकार है, कान का भी आकार है। जो कुंडल पहना गया है, वह मकर की आकृति का बना हुआ है। इन सब आकारों की स्वतंत्र पहचान हमें है किन्तु यहाँ ये सब सम्बद्ध रूप में है।

वस्तुतः कुंडल पर दृष्टि गई है, उसी की शोभा का वर्णन किया गया है। कुंडल कान में पहनने के लिए होते हैं। यदि वे दुकान पर या जौहरी के पास

हों तो उसकी शोभा वस्तु रूप में भले ही हो किन्तु वास्तविक शोभा कान में पहनने पर ही दिखलाई देगी । आकार को दूसरे आकार के परिप्रेक्ष्य में (उचित स्थान पर) देखने पर आकार की शोभा का बोध होता है ।

कुंडल कानों में हिल रहे हैं । हिलने से कुंडल की आभा कान के पास के प्रदेश पर फैलती है । इस हिलने पर बिहारी ने उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है । उत्प्रेक्षा यह है । कुंडल मानो निसान है, किसी देश को जीतने के बाद ड्योढ़ी पर विजय की घोषणा के चिह्न स्वरूप निसान लगाया जाता है । कुंडल, निसान है, कान ड्योढ़ी है और हृदय प्रदेश है । विजय प्राप्त करनेवाला कामदेव है । उत्प्रेक्षाओं को क्रम में रखकर देखें और एक आकार के साथ दूसरे आकार की तुलना करें तो पूरा बिम्ब-चित्र बनता है ।

शब्द का अर्थ जानते समय हमें शब्द से सम्बन्धित वस्तु का (यदि शब्द वस्तु-वाची है) आकार ज्ञात होना चाहिए । आकार की कल्पना के अभाव में हमारे मन में वस्तु का बिम्ब नहीं बन सकता ।

कुंडल का हिलना, निसान का हिलना है । निसान पर विजय के संकेत का चिह्न होता है । वैसे निसान स्वयं चिह्न है । यहाँ कुंडल का वर्णन करते समय कहा गया है कि कुंडल मकर की आकृति के हैं । मकर (डिझाइन) होने पर भी प्रतिकात्मक रूप में चिह्न-स्वरूप है । वह कुंडल रूपी निसान का चिह्न है । यह निसान (कुंडल) ड्योढ़ी पर (कान में) हिल रहा है (विजय की घोषणा कर रहा है । ड्योढ़ी प्रवेश द्वार के पास के प्रदेश को कहते हैं । कान की बनावट (आकृति) ड्योढ़ी के सदृश है । ड्योढ़ी से प्रवेश करने में थोड़ा घूमना पड़ता है । कान की आकृति में घुमाव-फिराव है । दूसरी बात यह कि हृदय रूपी देश की यह ड्योढ़ी है । बाहर से कोई कथन कानों के मार्ग में (श्रवण द्वारा) प्रवेश करता है । यहाँ पर संभावना यह है कि नायक ने (गोपाल ने) किसी के मुख से नायिका के सौंदर्य तथा गुण आदि सुन लिया है । श्रवण मात्र से कामदेव ने उसके हृदय पर अधिकार कर लिया । प्रमाण यह है कि गोपाल में सात्त्विक कंप के कारण कान हिल गए हैं । हिलने से कुंडल हिले हैं । कुंडलों के हिलने में कामदेव के विजय की घोषणा है । अस्तु ।

यह दोहे के अर्थ का विश्लेषण हुआ । मूल विषय की ओर आते हुए यह कह सकते हैं कि किसी आकार की शोभा उचित परिप्रेक्ष्य में देखने से दिखलाई देगी । फोटोग्राफर फोटो खींचने से पहले परिप्रेक्ष्य को देखता है । बदलते

परिप्रेक्ष्यों में बदलती आभाएं दिखलाई देंगी और हमारे मन में वही आकार दूसरे भावबोध जगा सकता है। दोहे में कुंडल को जिस परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, वह परिप्रेक्ष्य कुंडल की शोभा बढ़ानेवाला है। एलोरा की गुफाओं में भगवान बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएं हैं। इनको विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखें (दूरी से तथा कोण बदलकर) तो भगवान बुद्ध के मुख पर भावों की भंगिमाओं में अन्तर दिखलाई देता है।

आयाम

आयाम में अनेक परिप्रेक्ष्य आ जाते हैं। वस्तुतः जितने आकार देश में (कांट के अर्थ में) हैं, उन सब को हम पूरे आयामों में नहीं देखते। जब भी हम देखते हैं, वह आयाम का एक अंश होता है। हम एक साथ अनेक आकार देखें, तब तो स्थिति और बदल जाती है। देश के साथ काल भी एक आयाम है। कांट ने काल को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है— वह लिखता है— 'काल हमारे आन्तरिक प्रत्यक्ष के आकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'[५] यह लिखने के बाद कांट ने अनुभव किया कि अर्थ संभवतः स्पष्ट न हो, अतः इस वाक्य पर उसने नीचे पाद-टिप्पणी में अलग से इस कथन का विश्लेषण किया। बात यह है कि कांट के कथनों में तथा उसकी शैली में वाक्यों का आन्तरिक सम्बन्ध इस तरह बना रहता है या बना हुआ है कि बीच में कहने के लिए जगह नहीं रहती। कांट ने पाद-टिप्पणी में लिखा है — "मैं सचमुच यह कह सकता हूँ कि मेरी प्रत्युपस्थापनाएं एक दूसरे के पश्चात् आती है, पर यह कहना है, तो बस इतना कहना है कि हमको उनकी चेतना, अपने अन्तःकरण के आकार के अनुसार मानो काल के पौर्वापर्य क्रम में हुआ करती है। अतएव समय न तो अपने आप में ही कुछ है और न वस्तुओं में (स्वतः) अन्तर्विष्ट विषयगत निर्धारणा (= नियंत्रणा) ही है।"[६] यह बात माननी पड़ेगी कि काल विषयी में अर्थात् देखनेवाले दृष्टा में आश्रित है। यह काल ही विषयों का बोध विषयी को कराता है। कांट यह मानता है कि देश और काल दोनों मिलकर इन्द्रिय-प्रत्यक्षों को आकार प्रदान करते हैं। वह लिखता है — "देश और काल दोनों साथ मिलकर समस्त इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के शुद्ध आकार हैं और इसलिए संश्लिष्ट प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाओं को संभव पर बनाते हैं।"[७] हमें कांट की तरह अधिक गहराई में नहीं जाना है। प्रस्तुत विषय की ओर आते हुए यह कहना है कि आकार की धारणा हमारे मन में इन्द्रियों से तो बनेगी ही किन्तु उसके साथ साथ देश तथा काल दोनों आयाम मिलने पर ही हमें आकारों का ठीक ज्ञान होगा। काल को हम सीधे अर्थ में संवेदन-काल के रूप में लें अर्थात्

किसी आकार को प्रत्यक्ष रूप में (इन्द्रियों के आधार पर) देश में स्थित विशेष परिप्रेक्ष्य (दूरी तथा इन्द्रिय के सम्पर्क में आनेवाला भाग) में देखते समय जो काल संवेदन के अनुभव का रहता है, उस काल को एक आयाम के रूप में समझना चाहिए ।

शिल्प

शिल्प का सम्बन्ध आकार के सृजन से हैं। शिल्पकार वह है, जो आकारों का सृजन करता हैं। प्राकृतिक रूप में जो आकार सृष्टि में देखने में आते हैं, उन सब का शिल्पकार हम विधाता को कहते हैं। ब्रह्मा सृजनहार है । उसने यह सब कैसे बनाया होगा ? यह उसी को मालूम किन्तु हम तो बने हुए आकारों को देखकर, उसके शिल्प की प्रशंसा करते हैं । किसी गीत की पंक्ति है— 'पत्ते पत्ते की कतरन न्यारी, पर हाथ कतरनी कहीं नहीं । ' पंक्ति में जो भाव व्यक्त है, वह शिल्प का है ।

प्रकृति में जो आकार प्राकृतिक रूप में विद्यमान हैं, उन सब के शिल्प को देखकर हम आश्चर्यचकित हैं। हम उनके सम्पर्क में आते हैं तथा उन सब से अपना नाता जोड़ते हैं । प्राकृतिक सम्पत्ति का उपयोग मनुष्य जाति करती आई है और स्वयं मनुष्य ने अनेक आकारों का सृजन किया है । मनुष्य ने जो आकार बनाए हैं, उनमें प्राकृतिक सम्पदा का ही उपयोग किया गया हैं । हमारी सभ्यता का इतिहास इस बात का प्रमाण हैं कि हमने कितने आकारों का सृजन किया हैं । इस सृजन में मनुष्य जाति ने अपने शिल्प का उपयोग किया हैं । आज मैं जिन वस्तुओं का उपयोग करता हूँ, वे सब वस्तुएँ कारखानों में बनी हैं या मनुष्य ने उनको बनाया हैं। इन सब के आकार हैं और मैं इन सब का उपयोग करता हूँ । इन सब के निर्माण में शिल्प का उपयोग किया गया हैं। जब हम किसी आकार को देखकर प्रसन्न होते हैं या उसे सुन्दर कहने लगते हैं, तो हमारा ध्यान उसके शिल्प की ओर इस नाते जाता है कि यह कैसे बना? यदि हमें आकार के अवयव तथा उसके गठन का तकनीकी ज्ञान हो जाता हैं, तो हम उस आकार के शिल्प से परिचित हो जाते हैं । कलाओं में शिल्प का महत्त्व मूर्त कला में अपेक्षाकृत अधिक प्रेषणीय हैं। आकारों का सम्बन्ध मूर्त से है और मूर्त कलाओं में वास्तु-शिल्प, मूर्तिकला आदि प्रमुख हैं । किसी आकार की व्याख्या में (सौंदर्य बोध की दृष्टि से) शिल्प निश्चित ही सहायक होता हैं । कलाकार संभवतः सृजन के बाद यह कह दे कि सजृन हो गया,

बस हो गया, यह न पूछो कि कैसे हुआ ? किन्तु समीक्षक को शिल्प के सम्बन्ध में कहना ही है।

मनुष्य के सृजन को देखना है, तो आज के महानगरों को देखा जाय। शहर के रूप में धरती के भूखण्ड पर विद्युत की आभा से जगमगाता, झिलमिलाता तथा चेतना से युक्त रूप जो आवागमान से पूर्ण है तथा जिसमें धरती पर सिर उंठाती अट्टालिकाओं की पंक्तिबद्ध मालाएँ और इन मालाओं के बीच बल खाते मार्ग तथा वीथियाँ हैं। बीच-बीच में मनोरम उद्यान तथा सरोवर हैं और वन को उपवन के रूप में परिवर्तित चिड़याघर हैं, यही नहीं, जहाँ दौडते नाना प्रकार के वाहन हैं, जो पंक्तिबध मार्गों को चीरते हुए निकल जा रहे हैं...यह . यह सब हैं। कितने आकारों को बतलाएँ ? शहर में वह सब कुछ है, जिसमें आकारों के नाना रूप एक स्थान पर भूखण्ड पर अपना सिर उठाए मनुष्य की विजय को सूचित करते हैं। 'शहरो की संस्कृति' पुस्तक में इस सम्बन्ध में ल्यूइस ममफोर्ड ने लिखा है :— 'शहर काल की उपज हैं। वे ऐसे साँचे हैं, जिनमें ढ़लकर मनुष्यों की जीवनावधि ने शान्ति और स्थिरता प्राप्त की हैं। उनमें कला के माध्यम से उन क्षणों को शाश्वत रूप मिला है जो इस माध्यम के अभाव में जीवित व्यक्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और बाद में जिनके नवीकरण या व्यापक सहभोग का कोई उपाय ही नहीं सूझता। शहर में कालान्तर प्रत्यक्ष हो उठता है। भवन स्मारक और सार्वजनिक मार्ग लिखित अभिलेखों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट होते हैं। देहात में बिखरी कलात्मक वस्तुओं को तो बिरले ही देख पाते हैं किन्तु शहर बहुसंख्यक मनुष्यों की दृष्टि का विषय बन जाते हैं। वे मूर्खों और उदासीनों के मन पर भी अपनी छाप छोड़ते हैं। परिरक्षण के महत्त्वपूर्ण तथ्य द्वारा समय समय को चुनौती देता है, समय समय से टकराता है। आदतों और जीवन-मूल्यों की धारा, विभिन्न युगों में तत्कालीन समाज की सीमा को लाँघकर, युग विशेष की छाप छोड़ती चलती है। अतीत शहर में अपने काल-खंडों की तह-पर-तह जमाता चला जाता है और अपने को तब तक बचाता रहता है जब तक कि अंत में स्वतः घुटन का शिकार हो कर समाप्त नहीं हो जाता। यही वह समय होता है जब आधुनिक मनुष्य केवल आत्म-रक्षा के लिए संग्रहालयों का अविष्कार करता है।' [८] ल्यूइस ममफोर्ड ने इस तरह बहुत लिखा है। प्रस्तुत प्रसंग में शहरों को मनुष्य द्वारा निर्मित भूखंड के आकार मानना चाहिए और इस आकार में अनेक आकार हैं, जो मनुष्य की सभ्यता को व्यक्त करते हैं। शहर में सब प्रकार के शिल्प मिलेंगे। आज महानगरों

में बड़े-बड़े संग्रहालय हैं। इन संग्रहालयों में अनेक कलाकृतियाँ रखी हुई हैं, जिनको देखकर मनुष्य के शिल्प का बोध होता है। सालारजंग म्यूजियम एवं अन्य अनेक संग्रहालय भारत में ही जगह-जगह पर हैं। इनके आधार पर हमारे मन में आकारों के प्रति सौंदर्य के संस्कार बनते हैं। कलाकृतियों को देखने के लिए जितना समय देना चाहिए, उतना समय हम नहीं देते। जो लोग एक ही दिन में (दिन में नहीं, चार घंटों में) एलोरा की गुफाएँ देख लेते हैं, उनके सम्बन्ध में क्या कहा जाय? वे लोग पूरे (सब) परिप्रेक्ष्य में तथा अन्य आयामों में कला के शिल्प को नहीं पहचान सकते। वे केवल इस बात से संतुष्ट हो जाते हैं कि विश्व में प्रसिद्ध गुफाओं को उन्होंने देख लिया है। एलोरा का शिल्प विश्व के आश्चर्यों में से है। ठीक यही स्थिति अजंता की भी है।

चेतन आकार

जड़ आकारों से चेतन आकार अधिक सुंदर हैं। जड़ आकारों में प्राकृतिक सम्पति होने पर भी मनुष्य के सृजन का भाग भी जड़ आकारों में है किंतु चेतन आकारों में मनुष्य से अधिक प्रकृति का हाथ है। एलोरा की कलाकृतियों म चेतन को जड़ रूप में व्यक्त किया गया है और यह अभिव्यक्ति इतनी उत्तम है कि लगता है कि चेतन जड़ के माध्यम से अपनी संस्कृति को व्यक्त कर रहे हैं। और यदि वह चेतन यथार्थ में (कलाकृतियों के माध्यम से नहीं) जीता-जागता दिखलाई दे, तो चेतन के आकार और भी सुंदर दिखलाई देंगे। वैसे यह कल्पना जगत है और कहते हैं कि — 'फूलते नहीं है, फूल भी ऐसे वसंत में, जैसे तव कल्पनाओं की डारों पर खिलते हैं।' — इस कथन को सच भी मान लें, तब भी चेतन आकारों को निश्चित ही सुंदर माना जा सकता है।

चेतन के आकारों में सभी प्राणी तथा मनुष्य आ जाते हैं। वैसे पौधों में भी चेतना होती है। चेतन में जीवन होता है। यह जीवन चेतन आकारों में व्यक्त होता है। चेतन आकार को हम शरीर या देह कहते हैं। इस शरीर के अनेक रूप मिलते हैं। यह ठीक है कि इन आकारों के सृजन में प्रकृति का हाथ अधिक है। किन्तु सभ्यता का इतिहास देख जाएँ और विश्व के भूखण्डो में मनुष्य के ही आकारों का अध्ययन करें तो विविध प्रकार के उदाहरण मिलेंगे। मनुष्य के शरीर में जो अवयव हैं, उनमें हाथ, पाँव, कान, आँखे, मस्तक, सिर, बाल, कंधा, पीठ, पेट आदि अनेक नाम हैं। अंगुलियों के अलग-अलग नाम

हैं। एक आकार में अनेक आकार हैं। इन सब को देखते हुए मनुष्य के आकारों में देशगत तथा कालगत रूप में जो परिवर्तन हुए हैं, इस सब का विवरण इतिहास ग्रंथों में है। जातियों के आधार कई हैं किन्तु आकार मात्र के आधार पर भी मनुष्य की जातियों में भेद मिलते हैं।

मनुष्य के आकार

मनुष्य के आकारों के नस्ल के आधार पर भेद मिलते हैं। वैसे तो इस सम्बन्ध में मानवशास्त्र के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया जाता है। यहाँ पर तदनुसार सामान्य रूप में आकारों के प्रति जो भेद सर्वेक्षण के आधार पर दिखलाए गए हैं, उसका परिचय दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में मैलविल जे. हर्सकोवित्स ने लिखा है — "मानव जाति के प्रधान समूहों को प्रायः तीन नस्लों–काकेशायड, मंगोलायड, नीग्रोयड नाम दिया गया है। उनके विस्तार को सामान्य रूप से क्रमशः यूरोप एशिया और अमरीका और अफ्रिका में केन्द्रित दिखाया जा सकता है।"[९] ... यह लिखने के बाद भी कहा गया है कि इन सब नस्लों की उपनस्लें भी हैं। इन सब में मिश्रण भी हुआ है और आवागमन के कारण भौगोलिक अन्तर का प्रभाव भी इन नस्लों पर पड़ा है। बौद्धिकता का प्रभाव भी पड़ा है। नस्लें जैसे-जैसे सभ्य होती गई हैं, वैसे-वैसे उन्होंने अपने आपको सँवारा है (प्राकृतिक आकार जो भी रहा हो उसको) और निश्चित ही इस सब से आकारों में क्रमिक विकास हुआ है। शारीरिक माप के सम्बन्ध में ही मैलविल जे. हर्सकोवित्स ने लिखा है–"शरीर के अन्य किसी भाग की अपेक्षा सिर और चेहरे के गुणों की माप अधिक होती है। एक बात यह भी है कि प्ररूप को पहचानने में चेहरे के लक्षणों का बहुत समय से प्रयोग हो रहा है। उदाहरण के लिए जिस तरीके से ससार के विभिन्न भागों में आँख की बनावट और रंग, बालों की बनावट, नाक की बनावट और ओठों के रूप जैसे कुछ गुणों को राष्ट्रीय, कबीली या वर्गीय घनिष्ठताओं के निर्णायक के रूप में महत्त्व दिया जाता है; उससे इसकी पुष्टि हो जाती है। और जहाँ तक हमें लिखित इतिहास उपलब्ध है उससे भी यह सूचना मिलती है। इसके अलावा मानवशास्त्री के लिए सिर और चेहरे के माप इसलिए भी मूल्यवान है कि उनमें से अनेक, अपेक्षया बहुत सही तौर पर मापे जा सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी अन्य शारीरिक मापों की तुलना में, जहाँ कि यौन या अन्य प्रकार के निषेध उसमें बाधक हो सकते हैं, इन अंगों का माप देने में व्यक्तियों को कम आपत्ति होती है।"[१०] मानवशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में

बहुत कार्य किया है और आनुवंशिकता तथा नस्लों के मिश्रण के सम्बन्ध में भी बहुत सी नई बातें बतलाई हैं। कहना यह है कि मनुष्य में सौंदर्य की अभिरुचि उनके अपने आकारों में सब से अधिक रही है। प्राणियों के आकारों में भी मनुष्य ने रुचि ली है किन्तु स्वयं उसका जो आकार है, वह कम आकर्षण का विषय नहीं है। नर तथा नारी इन दोनों में कौन सुन्दर है? मैं तो कहूँगा कि दोनों ही सुन्दर हैं। दोनों के सौंदर्य के प्रतिमान अलग-अलग होंगे। इस सम्बन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध है, उतना दूसरा नहीं। नारी के सौंदर्य पर (आकार के दृष्टि से ही) जितना साहित्य लिखा गया है, उतना नर के सौंदर्य पर नहीं लिखा गया। इसका एक कारण यह भी है कि लिखनेवाले नर रहे हैं और उन्हें नारी में सौंदर्य दिखलाई दिया है। शृंगार के ग्रंथों में इस आधार पर नायक तथा नायिकाओं की जातियों का तथा उनके लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया गया है, जिसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। शृंगार से सम्बन्धित ग्रंथों में नर तथा नारी के आकारों का वर्णन है, इतना ही कहना अभिप्रेत है।

नर और नारी के सौंदर्य का आधार अन्य बहुत-सी बातों के होते हुए भी वस्तुगत (Objective) अधिक है। आकारों का इनमें महत्त्व है और इन प्रतिमानों में आज भी विश्वास किया जाता है। हेवलॉक एलिस ने लिखा है :–
"यदि हम तुलनात्मक रूप से असभ्य लोगों में स्त्री के सौंदर्य के सम्बन्ध में जो आदर्श है, उसका सर्वेक्षण करें तो हमें यह दिलचस्प बात मालूम होगी कि इनमें बहुत-सी बातें ऐसी मिलेंगी जो सभ्य लोगों की सौंदर्य-सम्बन्धी रुचि के अनुरूप होगी। सच तो यह है, उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जो किसी भी प्रकार हमारे सौंदर्य-सम्बन्धी विचारों या आदर्शों के प्रतिकूल नहीं पड़ती। यहाँ तक कि कहा जा सकता है कि कुछ असभ्य जातियों के सौंदर्य-सम्बधी आदर्श हमारे मध्ययुगीन पूर्वपुरुषों के आदर्श से हमें कहीं अधिक भले मालूम होते हैं। आधुनिक यूरोपियन संस्कृति के सम्बन्ध में मान लिया जा सकता है कि वह सौंदर्यशास्त्रगत सौंदर्य के प्रति विशेष रूप से अनुभूतिशील है, फिर भी वह असभ्य जातियों की स्त्रियों में सौंदर्य देखता है। इससे यह सूचित होता है कि चाहे कितनी ही तरह के बदलनेवाले प्रभाव पड़े हों, सौंदर्य एक बड़ी हद तक एक वस्तुगत मामला है। इस धारणा का समर्थन इस प्रकार भी होता है कि निम्नतर जातियों के लोग कई बार अपनी जाति की स्त्रियों में यूरोपीय स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं।"[११] बिहारी ने गोरी गँवारी में सौंदर्य देखा हैं। यह सौंदर्य निश्चित ही वस्तुगत है, अर्थात आकारमूलक है। दोहा इस प्रकार हैं :–

गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार।[१२]

इस तरह के बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

नर तथा नारी के सौंदर्य के सम्बन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध है, उतना उनके असौंदर्य के सम्बन्ध में नहीं। नकारात्मक रूप में सौंदर्य का वर्णन मिले तो सकारात्मक बोध में सहायता मिल सकती है। नर के सौंदर्य का प्रतिमान भारतीय साहित्य में राम तथा कृष्ण हैं (प्रधान रूप से)। इसी तरह नारी के सौंदर्य के सम्बन्ध में सीता तथा राधा को प्रतिमान माना जा सकता है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में नर तथा नारी के सौंदर्य का वर्णन करते समय आकारों का वस्तुमूलक वर्णन किया है। यह वर्णन ऐसा है, जिसके आधार पर मानवशास्त्री इन आकारों का प्रतिमान के रूप में उपयोग कर सकता हैं। वाल्मीकि ने राक्षस तथा राक्षसियों का वर्णन भी किया हैं। नर तथा नारी की सुन्दर आकृति के सम्बन्ध में तो हम बहुत जगह पढ़ते हैं किन्तु उनकी कुरूपता के सम्बन्ध में प्रायः कम पढ़ा जाता है। मनुष्य के देह में जितने अवयव पाए जाते हैं वे यदि सब यथास्थान हों, पूर्ण हों एवं मनुष्य स्वस्थ हो तो साधारण रूप में वह सुन्दर माना जाना जाहिए। इसके विपरीत कुरूप मानने में एक कारण तो यह हो सकता है कि उसके देह के अवयवों में असंगति है या किसी अवयव की कमी है या अवयव यथास्थान नहीं हैं। हम अपनी कल्पना के अतिरिक्त (हमारे मन में मनुष्य के देह के आकार की जो कल्पना बनी हुई है, उसके अतिरिक्त) यदि मनुष्य का आकार देखते हैं, तो फिर वह हमें सुन्दर नहीं लगता। वाल्मीकि ने राक्षस तथा राक्षसियों के वर्णन में विकृत तथा असंगत आकार दिखलाए हैं। राक्षस तथा राक्षसियों के वर्णनों को यदि विश्वसनीय न मानकर कवि-कल्पना भी यदि मान लिया जाय, तब भी मानव-सौंदर्य के प्रतिमानों की दृष्टि से इस सारे वर्णन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। वाल्मीकि ने राक्षसियों का वर्णन जिस रूप में किया है, उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। हनुमानजी सीता की खोज में लंका गए। वहाँ अशोकवाटिका में सीता की रखवाली में रावण द्वारा रखी गई राक्षसियों को हनुमानजी ने देखा। उन राक्षसियों के आकार हनुमानजी को जिस तरह दिखलाई दिए, उन आकारों का वर्णन इस प्रकार है :—

स ददर्शाविदूरस्था राक्षसीर्घोरदर्शनाः ।४।
एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा।
अकर्णां शंकुकर्णां च मस्तकोच्छ्वासनासिकाम् ।५।

अतिकायोत्तमांगी च तनुदीर्घशिरोघराम् ।
ध्वस्तकेशीं तथाकेशीं केशकम्बलधारिणीम् । ६ ।
लम्बकर्णललाटां च लम्बोदरपयोधराम् ।
लम्बोष्ठीं चुबुकोष्ठीं च लम्बास्यां लम्बजानुकाम् । ७ ।
ह्रस्वां दीर्घां तथा कुब्जा विकटा वामनाँ तथा ।
करालां भुग्नवक्त्रां च पिंगाक्षी विकृताननाम् । ८ ।
विकृताः पिंगलाः कालीः क्रोधनाः कलहप्रियाः ।
कालायसमहाशूलकूटमुद्गर धारिणीः । ९ ।
वराहमृगशार्दूलमहिषाजशिवामुखीः ।
गजोष्ट्रहयपादीश्च निखातशिरसोऽपराः । १० ।
एकहस्तैकपादाश्च खरकर्ण्यश्वकर्णिकाः ।
गोकर्णीर्हस्तिकर्णीश्च हरिकर्णीस्तथापराः । ११ । · आदि

— सप्तदशः सर्गः, सुन्दरकाण्ड

भावार्थ : हनुमान ने जानकी को देखते समय भयंकर राक्षसियों को देखा, जो सीता से कुछ दूरी पर बैठी थीं । उनमें से किसी की एक आँख थी, किसी को एक कान था, किसी के कान बहुत बड़े थे और कोई बिना कानवाली थी । किसी के कान खूँट के समान थे तो किसी की नाक मस्तक पर थी, जिससे वह साँस लेती थी । किसी के शरीर का भाग बहुत विशाल था तो कोई पतली और लम्बी गरदनवाली थी । किसी के केश झड़े हुए थे तो किसी का शरीर केशहीन था और किसी का ऐसा केशोमय था कि लगता था कम्बल ओढ़े हुए है । किसी के लम्बे लम्बे कान, लम्बा कपाल, लम्बा पेट, लम्बे घुटने, लम्बे स्तन और लम्बे ओठ थे । किसी के ओठ ठुड्डी तक फैले हुए थे । कोई लम्बमुखी, कोई लम्बोदरी और कोई नाटी थी । कोई लम्बी, कुबड़ी, विकृत आकार वाली (टेढ़ी मेढ़ी) बौनी और भग्नमुखवाली थी । कोई पीली आँखवाली, बिगड़े हुए मुख की, काली पीली, क्रोध से युक्त एवं कलह करनेवाली थी । किसी के पास महाशूल और काँटे मुद्गर थे, तो किसी का मुख सूअर के समान था और किसी का मुख हिरन के तुल्य था .... आदि

इन वर्णनों में विशेष बात जो लक्षित होती है, वह यह है कि मनुष्य के शरीर के अवयवों के नाम हैं और इन नामों के आकारों के अनुसार राक्षसियों का वर्णन किया गया है । ये सब आकार उचित परिमाण में नहीं है, तथा हैं भी तो पूर्ण प्रतिमानों में बैठते नहीं है । साधारणतः दो आँखें होती हैं । यहाँ किसी

को एक आँख है, तो उसे एकाक्षी कह दिया। इससे कुरूपता व्यक्त हुई है। मनुष्य के ही आकारों को विकराल रूप में 'घोरदर्शना' के रूप में वाल्मीकि ने इन सब को दिखलाया है। सीता के रूप के साथ ये सब कहाँ बैठ सकती हैं ? इन में सीता अलग से पहचान ली जा सकती थी और हनुमान ने सीता को पहचाना भी है।

सामान्य रूप में हम उन आकारों को सौंदर्य का प्रतिमान मानकर चलते हैं, जिन आकारों की व्याप्ति है (बहु संख्या में जो वर्तमान है) और जिन्हें देखने के हम अभ्यस्त हैं। मान लीजिए हम किसी ढ़ाई फुट के मनुष्य को देखते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है। बौना व्यक्ति सब की आँखों में आ जाता है। आकार भेद में यह मात्रा का (ऊँचाई की मात्रा का) भेद है और इस भेद में किसी में सामान्य से भिन्न प्रवृत्ति मिली तो हमारा ध्यान तुरत चला जाता है। इसी तरह कोई सात फुट का आदमी मिल जाय तो भी हम उसको विशेष रूप से देखते हैं। आजकल यूरोप, अमेरिका एवं अन्य देशों से आनेवाले यात्रियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। निश्चित ही उनके आकारों में तथा रंग में भारतीय प्रतिमानों से कुछ अंतर है। सामान्य रूप में जब वे बाजारों से गुजरते हैं तो लोग उन्हें ध्यान से देखते हैं। देखने का कारण यह है कि उनके आकार तथा रंग में अंतर है। या तो उन्हें सुंदर मानते है या असुंदर, यह अपनी-अपनी रुचि की बात है। इस मानने में हमारे अपने संस्कार के अनुसार प्रतिमान बने हुए हैं। वाल्मीकि ने राक्षसियो को 'घोरदर्शना' कहा है। यह विशेषण अपने आप में ऐसा है जो नर के आकारों के सामान्य दर्शनबोध से भिन्न है।

आकार भेद में केवल ऊँचाई (कद) की ही बात नहीं अपितु शरीर के अन्य अवयवों के संतुलन की बात भी है। 'आजानुबाहु' हमारे यहाँ सौंदर्य का प्रतिमान है। राम आजानुबाहु कहे गए हैं। इसी तरह अन्य अवयवों के संतुलन के सम्बन्ध में भी कहा गया है। विशाल आँखें, उन्नत ललाट, नुकीली नाक आदि प्रतिमान बने हुए हैं। नारी के आकार के भी प्रतिमान हैं। वाल्मीकि रामायण में ही रावण सीता को देखकर उसके सौंदर्य की प्रशंसा करता है, तो नारी के सुंदर प्रतिमानों का उल्लेख कर देता है। शृंगार के ग्रंथों में नख-शिख का वर्णन विस्तार से मिलता है। संक्षेप में कद के साथ साथ अन्य आकारों के संतुलन पर भी हमारा ध्यान सौंदर्य की दृष्टि से जाता है। यदि किसी व्यक्ति में सामान्य (औसत) संतुलन का रूप (आकार) न मिले तो हम उसकी ओर विशेष रूप से देखते हैं और सौंदर्य के प्रतिमान से कुछ भिन्न मानते हैं।

चाहे जड़ हो या चेतन, आकार का सम्बन्ध भौतिक अस्तित्व से है और ये सब मिट्टी के ही विविध रूप हैं। इन आकारों का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है और हम चाहे जितना इन पर भाव-बोध की दृष्टि से विचार करें, किन्तु सौंदर्य-बोध के प्रतिमानों पर विचार करते समय उनके आकारों को ध्यान में रखना ही पड़ता है। इन आकारों पर भौगोलिक प्रभाव सब से अधिक पड़ता है। इसके बाद हमारी सभ्यता भी बहुत हद इन आकारों को सजाने तथा सँवारने के लिए जिम्मेदार है। हमने जो ज्ञान अर्जित किया है और जीवन को उन्नत बनाया है, उससे भी आकारों में अन्तर आया है। प्राकृतिक शक्तियों के अनिवार्य रूपेण सम्बद्ध कारणों के होने पर भी मानव की बुद्धि में जो विकास हुआ है, उसने भी आकारों को कान्ति, चमक, जीवन तथा ताजगी देने में सहायता प्रदान की है।

संदर्भ

१. रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, ४–११

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, ४–२३.

३. शुद्ध बुद्धि मीमांसा, इमैनुएल कांट, अनुवादक : भोलानाथ शर्मा, पृ. ६३ तथा ६४।

४. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या, १०३।

५. शुद्ध बुद्धि मीमांसा, इमैनुएल कांट, अनुवादक : भोलानाथ शर्मा, पृ. ७२।

६. —— वही —— पृ. ७२।

७. शुद्ध बुद्धि मीमांसा, इमैनुएल कांट, अनुवादक : भोलानाथ शर्मा, पृ. ७३।

८. शहरों की संस्कृति, ल्यूइस ममफोर्ड, अनुवादक : डॉ. पद्मसिंह शर्मा कमलेश, पृ. भूमिका का दूसरा पृष्ठ।

९. सांस्कृतिक मानवशास्त्र, मैलविल जे. हर्सकोवित्स, अनुवादक : रघुराज गुप्त, पृ. ६१।

१०. सांस्कृतिक मानवशास्त्र, मैलविल जे. हर्सकोवित्स, अनुवादक : रघुराज गुप्त, पृ. ५४।

११. यौन मनोविज्ञान, हेवलॉक एलिस; अनुवादक : मन्मथनाथ गुप्त पृष्ठ ७१।

१२. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या ९३।

○ ○

आचार

आचार का सम्बन्ध मनुष्य के कर्म तथा व्यवहार से है। जड़ वस्तुओं का आचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। जड़ वस्तुओं का व्यवहार उनके प्राकृतिक गुणों पर निर्भर है। उनमें चेतना न होने के कारण वे स्वयं अपनी ओर से कुछ नहीं करते। जड़ वस्तुओं के साथ प्राकृतिक नियम अधिक काम करते हैं। इस तुलना में आचार का सम्बन्ध चेतन जगत से अधिक है। प्राणियों में आचार की भावना देखी गई है। हिंस्र से हिंस्र पशु भी प्रशिक्षण के उपरान्त आचरण का अभ्यास कर लेते हैं। पालतू पशुओं में आचरण की भावना वन्य पशुओं से अधिक पाई जाती है। इन सब में मनुष्य जाति का सम्बन्ध आचरण से अधिक है। जब भी हम आचरण पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान कर्म की ओर जाता है। मनुष्य के कर्म के आधार पर आचार का निश्चय होता है। आचार को परम धर्म माना गया है। कहा गया है : —

आचारः परमो धर्मः, आचारः परमं तपः ।
आचारः परमं ज्ञानं, आचारात् किं न साध्यते ।।

आचार का यहाँ पर अर्थ सदाचार लिया गया है। सदाचार उत्तम धर्म है,

सदाचार श्रेष्ठ तप है, सदाचार उत्कृष्ट ज्ञान है। इस सदाचार से क्या नहीं सिद्ध किया जा सकता? अर्थात् सदाचार से सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है।

आचार बनाम कर्म-सौंदर्य

आचार को धर्म के रूप में न भी मानें, तब भी कर्म तो मनुष्य करता ही है। निष्कर्मी कोई नहीं रह सकता। आचार का उल्लेख करने के साथ धर्म हमारे सामने आ जाता है। जो धर्म में विश्वास रखते हैं, वे निश्चित ही कर्म के लिए धर्म से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। धर्म के आदेशों के अनुसार जो कर्म किए जाते हैं, उनको ही हम 'आचार' (सदाचार कहना चाहिए) के रूप में स्वीकार करते हैं। इस रूप में यदि आचार को स्वीकार न किया जाय, तब भी 'आचार' से व्यक्ति मुक्त नहीं है। म यहाँ 'आचार' शब्द का प्रयोग धार्मिक दृष्टि से भिन्न अर्थ में कर रहा हूँ। आचार का प्रयोग मैं कर्म-सौंदर्य के रूप में कर रहा हूँ। हम जो कर्म करते हैं और हमारा अपना (मनुष्य जाति का) कर्म के प्रति जो भाव-बोध या दृष्टिकोण बना हुआ है, उसमें कर्म-सौंदर्य का बोध होता है।

धर्म और विज्ञान

आचार के अन्तर्गत व्यक्ति एवं समाज दोनों में प्रचलित कर्म तथा व्यवहार का यथार्थ विवरण होगा। फिर इनमें और कई भेद हैं। व्यक्ति का अपना आचार है, लोक का अपना आचार है, देश का अपना आचार है, इसी तरह जातियों के अपने आचार हैं ... आदि। इन सब के साथ-साथ कर्म-सौंदर्य के प्रति बदलती धारणाओं ने भी मनुष्य की कार्य पद्धति को प्रभावित किया है (इसमें विज्ञान बहुत हद तक जिम्मेदार है) और इससे आचरण के प्रति धारणाएँ बदली हैं। धर्म ने बदलती पद्धतियों पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायता की है तो विज्ञान ने बदलती पद्धतियों को प्रोत्साहन दिया है। संक्षेप में विज्ञान और धर्म दोनों का प्रभाव मनुष्य के व्यावहारिक जीवन पर पड़ा है और इससे आचार प्रभावित हुए हैं। जो एकदम विज्ञान को मानकर चले हैं, उन्होंने जीवन की कार्यप्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन किया है और सदैव परिवर्तन के लिए तैयार रहे हैं। इससे बदलते आचारों के प्रति धर्म के मठाधिपतियों ने इस सब का डंके की चोट विरोध किया है। धर्म के पास कर्म पर नियंत्रण के लिए सब से बड़ी शक्ति ईश्वर है, जब कि विज्ञान के पास 'शुद्ध ज्ञान या विशेष ज्ञान' के सिवा और कोई शक्ति नहीं है। वैसे इस

मामले में धर्म आज भी मानव समाज में आचार की सुरक्षा के लिए सब से अधिक प्रयत्नशील है, इस पर भी विज्ञान के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । यहाँ 'कर्म-सौंदर्य' पर विचार करते समय इन दोनों तत्त्वों को (धर्म तथा विज्ञान) ध्यान में रखा जा रहा है, साथ ही इस बात पर भी विचार किया जा रहा है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं का आचरण पर क्या प्रभाव पड़ा है।

प्रकृति और आचरण

आचार पर विचार करते समय हमारा ध्यान प्रकृति पर जाता है। यह मानी हुई बात है कि मानव-प्रकृति को (उसके स्वभाव और उसके कर्म को) नियंत्रित किया गया है । मनुष्य जन्म से कुछ सीख कर नहीं आता। जन्म लेने के बाद उसे सब कुछ सीखना पड़ता है। इस सीखने में 'मानव-प्रकृति' के साथ आचरण की संगति बैठाई जाती है। धर्म ने मानव-प्रकृति को नियंत्रित करने तथा सामूहिक उत्थान तथा विकास की भावना को बल प्रदान करने का प्रयत्न किया है। किन्तु मानव की सहज प्रवृत्ति नियंत्रण स्वीकार नहीं करती। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मानव-प्रकृति बदलती रही है। युद्ध और शान्ति दोनों ही मानव-प्रकृति के परिणाम माने जा सकते हैं। इतिहास में जो काल शान्ति का काल रहा है, उसे मानव-प्रकृति के नियंत्रित रहने का काल मानना चाहिए और जो युद्धकाल है उसे निश्चित ही नियंत्रण से मुक्त रहकर परिवर्तित प्रकृति का काल मानना चाहिए।

परिवर्तनशील मानव-प्रकृति को स्वीकार करते हुए जॉन ड्यूई ने लिखा है :—
"जो लोग यह तर्क करते हैं कि नैतिक एवं सामाजिक सुधार इस कारण असम्भव है कि मानव-प्रकृति का बूढ़ा-बाबा आदम तो सदा एकरस रहता है, वे उस स्थायित्व एवं जड़ता को, तथापि, जन्मजात क्रियाकलाप का गुण मान लेते हैं, जो वस्तुतः अर्जित-प्रथाओं से सम्बद्ध है । अरस्तू के मत में दासता आदिम मानव-प्रकृति में बद्धमूल थी । चरित्र की जन्मजात विशेषताएँ इस प्रकार रहती हैं कि कुछ व्यक्तियों को तो स्वभाव से ही योजना बनाने, आदेश देने और निरीक्षण करने की शक्ति का वरदान होता है और दूसरों में केवल आदेश का पालन करने तथा उसको क्रियान्वित करने की योग्यता ही होती है । इस कारण दासता स्वाभाविक एवं अनिवार्य है, चूँकि घरेलू और साम्पत्तिक दासता कानून से हटा दी गई है, इसलिए यह मान लेना कि अरस्तू द्वारा उपन्यस्त दासता भी हट गई है, भ्रम है। परन्तु बात कम-से-कम इतनी

तो आगे बढ़ गई है कि जिससे यह स्पष्ट हो गया है कि दासता एक सामाजिक स्थिति है, मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता नहीं। तथापि आजकल के व्यवहार-कुशल अरस्तू यह प्रतिपादन करते हैं कि युद्ध एवं वर्तमान भृति-पद्धति की संस्थाएँ, अपरिवर्तनीय मानव-प्रकृति में इतनी गहरी जमी हुई है कि उनको बदलने का उद्यम करना मूर्खतापूर्ण है।"[१] इससे हम यह मान सकते हैं कि मनोविज्ञान ने मानव-प्रकृति को परिवर्तनशील माना है और उसे बदलते परिप्रेक्ष्यों में पहचानने का प्रयास किया है।

इतिहास ने यह प्रमाणित किया है कि मानव-प्रकृति में सभ्यता के परिवर्तन के कारण अन्तर आया है। स्पिनोजा यह मानता है कि – "मनुष्य शरीर अनेक रीतियों से प्रभावित हो सकता है, जिनसे इसकी क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती है, और ऐसी रीतियों में भी जो इसकी क्रिया-शक्ति को न तो बढ़ाती है, न घटाती है।"[२] कर्म-सौंदर्य पर विचार करते समय मनुष्य की क्रिया-शक्ति पर तथा उस शक्ति के घटते-बढ़ते प्रभावों पर विचार करना चाहिए।

मनुष्य की क्रिया-शक्ति के घटने-बढ़ने में ज्ञान तथा भावनाओं का प्रमुख हाथ है। सब से बड़ा उदाहरण हमारे सामने गीता है। मोह के कारण (भावना से अभिभूत होने के कारण) अर्जुन की क्रिया-शकित घट गई, अर्जुन कृष्ण से कहते हैं :–

> सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
> वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। २९।
> गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
> न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः। ३०।

(गीता, प्रथम अध्याय।)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण मेरा गात शिथिल हो रहा है, मुख सूख रहा है और देह काँप रहा है। देह के काँपने से रोमांच हो गया है। गांडीव (धनुष) हाथ से गलकर छूट रहा है और सारा अंग जल रहा है। मैं खड़ा नहीं रह सकता; मन भ्रमित हो रहा है...आदि।

अर्जुन की क्रिया-शक्ति घट गई थी। युद्ध सब से प्रबल कर्म है। युद्ध से बढ़कर और कोई कर्म हो ही नहीं सकता। और मैदान में (कर्म स्थल पर) यदि

हतोत्साहित हो जाएँ, तो युद्ध कैसे किया जायगा ? ठीक ऐसे समय में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया । इस उपदेश का परिणाम यह हुआ कि अर्जुन ने हाथ से गले हुए गांडीव को फिर से उठा लिया । गीता में कर्म के साथ ज्ञान तथा भावना की संगति बैठाई गई है । यह होने पर भी मूलतः गीता कर्म सिद्धान्त का ग्रंथ है ।

सामान्य रूप में हम जानते हैं कि मनुष्य को कर्म करना है । निष्कर्मी कोई नहीं रह सकता । इन कर्मों का विभाजन अनेक प्रकार से किया जा सकता है । दैनिक कर्म, व्यावसायिक कर्म, वैयक्तिक कर्म, सामाजिक कर्म आदि । चाहे किसी प्रकार का कर्म हो, जब भी वह किया जाएगा तो उसमें साधनों के कारण अन्तर आएगा । अतः कर्म के साथ साधन जुड़े हुए हैं । साधन बदलते है, तो कार्यपद्धति बदलती है । साधनों के कारण कार्य में गति आई है, निखार आया है तथा उससे भावबोध में भी अन्तर आया है । साधनों में इतना अन्तर आ गया है कि मनुष्य का काम मशीन द्वारा हो रहा है । मशीनों की शक्ति ने मनुष्य को उपेक्षित किया है । मशीन राक्षस के समान है, जिसकी कर्म-क्षमता मनुष्य से कई गुना अधिक है । यह होने पर भी उस राक्षस पर (मशीन पर) मनुष्य का ही नियंत्रण है । बदलते परिप्रेक्ष्यों में कर्म-विधान बदला है और आज तो स्थिति इतनी बदल गई है कि मशीनों पर नियंत्रण रखने के लिए मानव के विवेक को ललकारा गया है ।

मनुष्य भी काम करता है और मशीन भी काम करती है किन्तु मशीन जिस क्षमता से काम करती है, उस क्षमता से मनुष्य काम नहीं कर सकता । आप हाथ से चित्र बनाइए और कैमरा से फोटो खींचिए । मनुष्य और मशीन का अन्तर ज्ञात हो जाएगा । हम सौंदर्य किस में मानें ? हाथ से बने हुए चित्र में मानें या कैमरे से उतरे हुए फोटो में मानें ? निश्चित ही हम मशीन के कार्य को उत्तम मानते हुए भी तथा उसकी क्षमता को स्वीकार करते हुए भी सौंदर्य बोध की दृष्टि से हाथ से निकाले गए चित्र में ही सौंदर्य का अनुभव करेंगे । कहना यह है कि हम उस कर्म में सौंदर्य का अनुभव करेंगे, जिसमें मनुष्य का हाथ लगा है । मनुष्य की सक्रियता के आधार पर ही कर्म-सौंदर्य को पहचानना चाहिए । मशीन में चेतना नहीं है । मनुष्य में चेतना है । मशीन का काम यांत्रिक है । इस तुलना में मनुष्य का काम यांत्रिक नहीं है । मनुष्य भी यांत्रिक काम करने लगे, तो फिर हम उसे कार्यकुशल तो कहेंगे किन्तु उसकी तुलना निश्चित ही मशीन से करेंगे । कर्म-सौंदर्य पर विचार करते समय हमें निश्चित ही मनुष्य की सक्रियता पर विचार करना चाहिए ।

कर्म के विविध रूपों पर ध्यान रखते समय कर्म के साथ मनुष्य की चेतना एवं कर्म करते समय उपयोग में लाए जानेवाले साधनों पर विचार करना आवश्यक है । कर्म के साथ कला का योगदान हो तो कर्म-सौंदर्य में वृद्धि होती है ।

कर्म और कला

कर्मों में, दैनिक जीवन के कर्म पर ही विचार करें । उठना, बैठना, भोजन करना, कपड़े पहनना, घर की सफाई, घर की सजावट एवं अनेक घरेलू कार्य हैं, जिन्हें हम करते हैं । छोटे-से-छोटा काम हो या बड़े-से-बड़ा काम हो, काम, काम है और उसे करते समय यदि हममें कलात्मक बोध जाग्रत हो जाएँ तो हम काम को आनन्दमय बना लेते हैं । वैसे तो काम करना अपने-आप में आनन्दप्रद है । जो बेकार हैं, निश्चित ही उनका जीवन सुखमय नहीं है । खाली या बेकार रहने की अपेक्षा नीरस-से-नीरस काम करना अच्छा है । यह इसलिए कि काम करने से दिन का बहुत सा काल सरलता से बीत जाता है और बेकार रहने की उकताहट से मुक्ति मिलती है । इसमें यदि काम में रुचि जग जाए तब तो जीवन निश्चित ही आनन्द से युक्त हो जाएगा और यदि काम करते समय काम के प्रति हम अपने कलात्मक बोध का उपयोग करने लगेंगे तो निश्चित ही हमारे सुख में वृद्धि होगी ।

मनुष्य के कर्म में उसकी आवश्यकताएं मूल में होती हैं । इन आवश्यकताओं के मूल में भोजन, वस्त्र एवं निवास स्थान प्रमुख हैं । हमारी दिनचर्या का बहुत बड़ा भाग इन आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यतीत हो जाता है । आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए यदि इस कार्यप्रणाली को कला के साथ जोड़ सकें तो कार्य का आनन्द बढ़ता है ।

एक ही कर्म नियमित रूप से किया जाएगा, तो उससे उस कर्म की आदत पड़ जाएगी । कर्म को दोहराने से (बार बार करने से) अभ्यास होता है । यही नहीं कर्म विशेष के प्रति सोचने का अवसर मिलता है तथा (व्यक्ति यदि प्रतिभाशाली है) काम करते-करते काम को और अच्छी पद्धति से कैसे किया जा सकता है, यह सोचना आता है । इसी से मनुष्य अवसर का लाभ उठाना सीखता है और कर्म विशेष में वह कुशल हो जाता है । यदि कोई व्यक्ति इस तरह से किसी कार्य में कुशल हो जाता है, तो हम उसे कार्यविशेष का कलाकार कहेंगे । सभी कर्म एक अर्थ में कलाएं हैं । वैसे आज कला शब्द का

यह अर्थ नहीं लिया जाता। किन्तु मूलतः कला का अर्थ यही रहा है। कला का यह सिद्धान्त तकनीकी है।

किसी कर्म में यदि कोई व्यक्ति बहुत कुशल हो जाता है, तो फिर वह उस कर्म का कलाकार मान लिया जाता है। फिर यह कोई भी कर्म हो सकता है। आवश्यकता से दौड़ना और बात है और दौड़ने का अभ्यास करना और बात है। किन्तु हम देखते हैं कि दौड़ने के कलाकार भी हैं। ओलिम्पिक चैंपियन जो सुवर्ण पदक प्राप्त करते हैं, वे इसी तरह के कलाकार हैं। तैरना, कूदना, एवं तरह-तरह के खेल खेलना... ...ये सब कर्म हैं। किन्तु इन कर्मों में यदि उत्तम अभ्यास हो तो कौशल बढ़ता है और फिर कर्म विशेष के कलाकार हो सकते हैं। इस तरह के कर्मों में फिर कर्म कर्म के लिए होता है और इससे कर्म-शक्ति की सीमाओं को नापा जाता है। जो लोग विश्व-रेकार्ड (किसी कर्म विशेष में) स्थापित करते हैं, वे मनुष्य की कार्यकुशलता का परिचय देते हैं।

प्रश्न है, क्या हम ओलिम्पिक चैंपियन के कर्म को सुन्दर कहेंगे? इस प्रश्न का उत्तर हम सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों रूपों में दे सकते हैं। अपनी-अपनी रुचि है। जो सकारात्मक उत्तर देंगे, वे यह कहेंगे कि किसी कर्म में मनुष्य की क्षमता की सीमा को हमने देखा है और इस तरह की क्षमता को देखकर हमें प्रसन्नता होती है। मान्ट्रियल में होनेवाले खेलों में लोग जिस प्रकार से रुचि लेते हैं, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ओलिम्पिक चैंपियन के कर्म में सौंदर्य का अनुभव किया जाता है। संभवतः, वे ऐसा कहते समय सौंदर्य शब्द का प्रयोग न कर रुचि शब्द का प्रयोग करेंगे। और रुचि न कह कर यह भी कह सकते हैं कि चमत्कृत करनेवाला कर्म है। क्या सरकसों में ऐसा नहीं होता? सरकस एक तरह की कसरत है, जिसमें शारीरिक शक्ति एवं कौशल का प्रदर्शन होता है। इसमें ऐसे कर्मों को प्रदर्शित किया जाता है, जिसे साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। किसी कर्म को यदि कोई बिना प्रयोजन के केवल प्रदर्शन के लिए करने लगे और हमें यदि उसमें रुचि न हो तो हम कहते हैं— 'इस सरकस से कोई लाभ नहीं है।' हम जानते हैं कि बच्चे सरकस में जितनी रुचि लेते हैं, उतने बड़े आदमी नहीं। संक्षेप में कर्म का प्रदर्शन मात्र दर्शक को चमत्कृत तो कर सकता है किन्तु इससे कर्म के प्रति दर्शक के मन में स्थायी प्रभाव पैदा नहीं होता। जिस कर्म से स्थायी प्रभाव मन में न बने उस कर्म को सुन्दर कैसे माना जाय? कर्म-सौंदर्य के लिए यह

आवश्यक है कि हम कर्म से केवल चमत्कृत न हों अपितु अपने मन में कर्म के प्रति स्थायी प्रभाव बनाएं।

कर्म और आचार

ऊपर मैंने आचार शब्द का प्रयोग 'कर्म-सौंदर्य' के अर्थ में किया है। धार्मिक ग्रंथों में आचार शब्द का अर्थ प्रायः धर्म के आदेशों के अनुसार करनेवाले कर्म को कहा गया है। मनुष्य, जो कर्म करता है, यदि वह कर्म धर्म के अनुसार हैं तो उसे 'आचार' कहा जाएगा। आचारः परमो धर्मः — कथन का यही अर्थ है। हिंदू धर्म तो ऐसा है, जिसमें प्रत्येक कर्म का विधान है। साधारण से साधारण काम का (दैनिक दिनचर्या से सम्बन्ध रखनेवाले काम का) भी विधान है। पाण्डुरंग वामन काणे ने लिखा है — प्रातःकाल उठने एवं उसके कृत्य के उपरान्त मल-मूत्र त्याग का कृत्य है। अति प्राचीन सूत्रों एवं स्मृतियों में इसके विषय में पर्याप्त लम्बा-चौड़ा वर्णन है। बहुत-से नियम तो स्वच्छता-स्वास्थ्य-सम्बन्धी हैं, किंतु प्राचीन ग्रन्थों में धर्म, व्यवहार-नियम, नैतिक नियम, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के नियम एक-दूसरे से मिले हुए पाए जाते हैं, अतः इनका धर्मशास्त्रों में उपदिष्ट होना आश्चर्य का विषय नहीं है।'[३] काणे ने ही अपने ग्रंथ में प्रमाण देते हुए, मल-मूत्र त्याग एवं शुद्धि, शौच के प्रकार, आचमन दन्तधावन, स्नान, नैमित्तिक स्नान, काम्य स्नान तथा स्नानों के अन्य प्रकार, गौण स्नान, तर्पण, वस्त्र-धारण, तिलक या चिह्न-अंकन, होम, जप आदि का विस्तार से विवेचन किया है तथा इस सम्बन्ध में शास्त्रीय विधानों का सप्रमाण विवरण दिया है। काणे के ही ग्रंथ में दन्तधावन के सम्बन्ध में जो विधान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है। — 'दातुन की लम्बाई, वृक्ष (जिसकी लकड़ी उपयोग में लाई जा सकती है या निषिद्ध है), दिन एवं अवसर (जिस दिन या अवसर पर दन्तधावन नहीं किया जाता) के विषय में विस्तार के साथ नियम दिए गए हैं। दो एक नियम यहाँ उल्लिखित हो रहे हैं। ऐसे वृक्ष की टहनी, जिसके तने में कण्टक हों और टहनी तोड़ने पर जिससे दूध ऐसा रस निकले, प्रयोग में लानी चाहिए, तथा वट, असन, अर्क, खदिर, करंज, बदर, सर्ज, निम्ब, अरिमेद, अपामार्ग, मालती, ककुभ, बिल्व, आम्र, पुन्नाग, शिरीष की टहनियाँ प्रयोग में लानी चाहिए। (विष्णुधर्मसूत्र ६१/१४–१५) ये टहनियाँ स्वाद में कषाय, तिक्त एवं कटु होनी चाहिए, न कि मीठी या खट्टी। दन्तधावन में निम्नलिखित वृक्ष प्रयोग में नहीं लाए जाते — — पलाश, श्लेष्मातक, अरिष्ट, विभीतक, धव, बन्धूक, निर्गुंड़ी, शिग्रु, तिल्व, तिन्दुक, इंगुद, गुग्गुल, शमी, पीलु, पिप्पल, कोविदार आदि। (विष्णुधर्मसूत्र ६१/१–५)

टहनियाँ शुष्क या अशुष्क दोनों हो सकती हैं किन्तु पेड़ पर की सूखी नहीं (विष्णुधर्मसूत्र ६१/८ एवं नृसिंहपुराण ५८/४६)। उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके दन्तधावन करना चाहिए, न कि पश्चिम या दक्षिण (विष्णुधर्मसूत्र ६१/१२-१३)। विष्णुधर्मसूत्र (६१/१६-१७) के मत से टहनी बारह अंगुल लम्बी एवं कानी अंगुली की पोर जितनी मोटी होनी चाहिए। उसे धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तथा प्रयोग के उपरान्त गन्दे स्थान में नहीं फेंकना चाहिए। लम्बाई के विषय में कई मत हैं। नृसिंहपुराण (५८/४९,५०) के मत से आठ अंगुल या एक बित्ता (प्रादेश), गर्ग (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ १०५ में उद्धृत) के मत से चार वर्णों तथा स्त्रियों के लिए क्रम से १०, ९, ८, ७ या ४ अंगुल लम्बी टहनी होनी चाहिए। ईंटों के टुकड़ों, मिट्टी या प्रस्तरों या खाली अँगुलियों से (अँगूठा या अनामिका के सिवा) मुँह नहीं धोना चाहिए (लघु शातातप ८, ७३, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ. १०६)। लघु हारीत एवं नृसिंहपुराण (५८/५०-५२) के मत से प्रतिपदा, पर्व की तिथियों (जिस दिन चन्द्र दिखाई पड़े, पूर्णमासी, अमावस, अष्टमी, चतुर्दशी तथा उस दिन जब सूर्य नयी राशि में जाय, देखिए विष्णुपुराण ३/११/११८), षष्ठी, नवमी या जिस दिन दातुन न मिले, दन्त धावन का त्याग होना चाहिए तथा केवल १२ कुल्लों (गण्डूषों) से मुँह धो लेना चाहिए। पैठीनसि के मत से (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ. १०६) घास, पत्तियों, जल एवं अनामिका को छोड़कर किसी भी अँगुली से दन्तधावन हो सकता है। दन्तविहीन लोग गण्डूषों (कुल्लों से या मुख में पानी भरकर) से मुख स्वच्छ कर सकते हैं। जिस दिन वर्जित न हो, उस दिन जिह्वा को भी इसी प्रकार रगड़ कर स्वच्छ करना चाहिए। श्राद्ध के दिन, यज्ञ के दिन, नियम पालते समय, पति के विदेश रहने पर, अजीर्ण होने पर, विवाह के दिन, उपवास या व्रत में (स्मृत्यर्थसार, पृ. २५) दन्तधावन नहीं होना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (६१/१६) ने 'न केवल प्रातः काल, प्रत्युत प्रत्येक भोजन के उपरान्त दन्तधावन की बात कही है, ऐसा केवल (देवल के अनुसार) दाँतों के बीच के अन्नांश को निकालने के लिए किया जाता है।'[४]

यह केवल दन्तधावन के सम्बन्ध में है और वह भी अति संक्षेप में है। प्रश्न है क्या इस विधान का पूरा-पूरा पालन होता है? आज तो दन्तधावन की पद्धतियाँ बहुत बदली हुई हैं। अनेक प्रकार के दन्त-मंजन मिलते हैं, तथा टूथ-पेस्टों के विविध प्रकार हैं। टूथ-ब्रशों से दंतधावन होता है। क्या इन सब को निषिद्ध मानना चाहिए? दन्तधावन के समय न हम दिशा देखते हैं और न समय का ध्यान रखते हैं, न तिथि-पर्व आदि के सम्बन्ध में सोचते हैं। हम तो

केवल मुख-शुद्धि चाहते हैं और आवश्यकता के अनुसार एवं यथा अवसर हम दन्तधावन करते हैं। किसी भी कर्म के करने में यदि कर्म-विधान के साथ भावना जुड़ जाती है, तो फिर हम कर्म के मूल प्रयोजन से हटकर उसके शुभ अशुभ परिणाम पर विचार करने लगते हैं और इस तरह के विचार यदि विश्वास में परिणत हो जाएँ तो मनुष्य कर्म-बंधन में पड़ जाता है। कर्म को इस विधान से करेंगे तो पुण्य होगा और इस विधान से करेंगे तो पाप होगा। इस तरह का विधान हमारे यहाँ हैं और यह विधान सामान्य कार्यों (नित्यकर्म) तक के सम्बन्ध में है, तो अन्य महत्त्वपूर्ण कर्मों के सम्बन्ध में है ही। कर्म के साथ पाप-पुण्य की भावना जुड़ी हुई है। जो कार्य पुण्य के हैं, उन्हें हम सदाचार कहते हैं और जो कार्य पाप के हैं, उन्हें हम दुराचार कहते हैं।

दन्तधावन के सम्बन्ध में ही दिए गए विधान को ध्यान से देखें। इस विधान में किसी एक शास्त्र को ही पूरी तरह मान लिया गया है, ऐसा नहीं है। स्वयं शास्त्रों में ही अनेक विधान हैं। उनमें संशोधन है। अपवाद भी दिए गए हैं। बदलती परिस्थितियों में बदलता विधान भी शास्त्रों में है। यही नहीं, इस विधान के निर्माण में कुछ बातें (विचार) ऐसी भी हैं, जिससे लगता है कि वैज्ञानिकता का ध्यान रखा गया है। स्वच्छता आवश्यक है और स्वच्छता के लिए नियमों का पालन करना जरूरी हैं। उदाहरण के लिए मल-मूत्र त्याग एवं शुद्धि के लिए ही यह विज्ञान है – "मार्ग, राख, गोबर, जोते एवं बोए हुए खेतों, वृक्ष की छाया, नदी या जल, घास या सुन्दर स्थलों, वेदी के लिए बनी ईंटों, पर्वतशिखरों, गिरे-पड़े देव-स्थलों या गोशालाओं, चींटियों के स्थलों, कब्रों या छिद्रों, अन्न फटकारने के स्थलों, बालुकामय तटों में मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए।"[५] इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत रूप में लिखा गया है किंतु इस विधान को भी देखें तो आज भी इसका विरोध कौन करेगा? स्वयं नगरपालिका चाहेगी कि इस विधान का पालन हो तो नगर साफ रहेगा। कहना यह है कि शास्त्रीय विधान जब भी बने हैं, तो उसमें वैज्ञानिकता (उनके अपने समय के अनुसार की) रही है। विधान बनाते समय जो साधन उनके अपने समय में (विधान बनानेवालों के) उपलब्ध रहे हैं, उन्हीं साधनों के अनुसार कर्म की व्यवस्था दी गई है। इन शास्त्रीय विधानों में ऐसे नियमों का उल्लेख है, जो स्वास्थ्य के लिए (नित्य कर्म के नियमों में ही) उपयोगी हैं, और जिनका पालन करना आज भी अनिवार्य माना जा सकता है। सफाई के लिए मिट्टी के प्रयोग की बात कही गई है। आज हम साबुन का उपयोग करते हैं। बहुत से लोग आज भी मिट्टी का प्रयोग सफाई के लिए करते हैं।

यह सब कुछ नित्य-कर्म के सम्बन्ध में कहा गया। इस आधार पर ही यह समझ लेना चाहिए कि सब प्रकार के कर्मों के लिए विधान हमारे यहाँ बना हुआ है। इन सब कर्मों का आचरण करते समय या उनको व्यावहारिक रूप देते समय यह आवश्यक है कि हम तटस्थ होकर वैज्ञानिक दृष्टि से इस विधान पर विचार करें और स्वास्थ्य तथा जनकल्याण की भावना से इन कर्मों को आचरित करें। यदि आज विज्ञान ने हमें साधन-सम्पन्न बनाया हैं, तो उन साधनों का उपयोग करने से हमें पाप लगेगा, ऐसी बात नहीं है। यदि हम टूथपेस्ट या दंतमंजन का उपयोग करते हैं या साबुन का व्यवहार करते हैं तो ऐसा करना वर्जित है, ऐसा नहीं मानना चाहिए।

हमें तो यह सोच कर प्रसन्न होना चाहिए कि छोटे-से-छोटे कर्म के प्रति हमारे यहाँ सोचा गया है और सोचा ही नहीं गया अपितु उसकी व्यवस्था दी गई। उस व्यवस्था को हम लाभप्रद समझें तो अवश्य अपनाएँ। यह तो विज्ञान है। स्वयं शास्त्रकारों ने समय समय पर विधान में संशोधन किया है और अपवादों की व्यवस्था दी है।

कर्म के साथ जैसे विज्ञान जुड़ा है, वैसे ही भावना भी जुड़ी हुई है और भावना के आधार पर कर्म आचरण का रूप ले लेता है। जिसे हम आचरण कहते हैं, वह कर्म का, वह रूप है, जिसके प्रति हमारी भवाना देखी जाती है। कर्म करते समय मनुष्य बिना कुछ अनुभव किए कर्म करता जाएगा, तो वह कर्म मशीन के समान हो जाएगा।

आचार का नैतिक संदर्भ

यदि कर्म-सौंदर्य पर विचार करना है, तो कर्म के साथ जुड़ी हुई भावना पर विचार करना चाहिए। कर्म का आधार (जानने की दृष्टि से) विज्ञान भले ही हो किन्तु कर्म को हम व्यावहारिक रूप देते समय, जो कुछ हम कर्म के प्रति अनुभव करते हैं या उसके प्रति हमारी जो भावना रहती है, उसी के आधार पर हमारे आचार बनते हैं और इन आचारों का सम्बन्ध नैतिकता से है। प्रश्न है, हम आचरण किसे कहते हैं? इसका उत्तर कर्म का नैतिक संदर्भ ही दे सकता है। इस सम्बन्ध में जान ड्यूई ने लिखा है — "जब कहीं हम आचरण का उल्लेख करते हैं तो वहाँ हमारा अभिप्राय कुछ ऐसे कामों की शृंखला से नहीं होता, जो परस्पर सम्बद्ध नहीं है, बल्कि वहाँ हर काम में एक प्रवृत्ति और इरादा अन्तर्निहित रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आगे कुछ

और काम भी होते हैं और इस प्रकार एक परस्पर सम्बद्ध कार्यश्रृंखला तब तक चलती रहती है जब तक कि उसकी अन्तिम परिणति न हो जाए।"[६] अर्थात् कर्म का नैतिक संदर्भ कर्म करनेवाले की इच्छाशक्ति से सम्बन्ध रखता है।

मनुष्य बहुत से काम ज्ञान के कारण नहीं, इच्छाशक्तियों के कारण करता है। इच्छाशक्ति बहुत बलवान होती है और इन इच्छाशक्तियों का सम्बन्ध मनुष्य की सहजप्रवृत्तियों से है। सहजप्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं, इस सम्बन्ध में मतभेद है किंतु सामान्य रूप में आत्मप्रेम को सहजप्रवृत्ति माना जाता है। यह भी माना गया है कि सब सबोध क्रियाएं आत्मप्रीति के कारण की जाती हैं। और माननेवाले तो यह मानते हैं कि सब सहजप्रवृत्तियाँ लौट कर यौन प्रवृत्ति में समा जाती हैं। आचरणों का सम्बन्ध इन सब से माना जाता है।

हमारे आचार के साथ जो नैतिक संदर्भ जुड़ा हुआ है, उसमें हमारी सहज प्रवृत्तियों का प्रमुख हाथ है। इस सम्बन्ध में जॉन ड्यूई ने आचार की समस्या पर आधुनिक संदर्भ में समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखा है — "मौलिक अथवा सहजप्रवृत्तिशील क्रियाएं अनगिनत हैं जो उन पर प्रभाव डालनेवाली परि-स्थितियों के अनुसार अभिरुचियों, प्रवृत्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इन क्रियाओं की रचनात्मक कला और इनके मानवोचित भव्य स्वरूप में अभिवृद्धि करना, उन सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का काम है जो परि-स्थितियाँ जन्मजात क्रियाओं को उत्तेजित करती हैं, चुनती हैं, सान्द्र करती हैं, निर्बल करती हैं और उनका परस्पर समन्वय करती हैं। इस दिशा में पहला कदम अपने विस्तृत वैज्ञानिक ज्ञान को बढ़ाना है। हमें प्रत्येक सामाजिक स्थिति की चुनावात्मक एवं निर्देशात्मक शक्ति को ठीक ठीक जानने की अपेक्षा है। यह बात ठीक ठीक जान लेने की अपेक्षा है कि प्रत्येक अभिवृत्ति कैसे उन्नत और अवरुद्ध हो जाती है। भौतिक परिस्थिति पर किसी विशाल और ऐच्छिक मात्रा में प्रभुत्व तब तक आरम्भ नहीं हुआ था जब तक स्थूल शक्तियों और सत्ताओं में विश्वास को नहीं छोड़ा गया था। भौतिक शक्तियों का नियंत्रण उस खोज के कारण हैं, जो सूक्ष्म तत्त्वों के पारस्परिक सहसम्बन्धों का निरू-पण करती हैं। सामाजिक नियंत्रण और समन्वय के विषय में भी दूसरी बात नहीं होगी। ज्ञान उपलब्ध करके हम सामाजिक अन्वेषण और परीक्षात्मक निर्माण के मार्ग में आशा से कार्य आरम्भ कर सकते हैं। मानवीय अन्तः सम्पर्क के प्रत्येक निश्चित रूप के शिक्षात्मक परिणाम—आदत पर प्रभाव—का अध्ययन, सफल सुधार के लिए पूर्वापेक्षित है।"[७] इस पूरे कथन का

विश्लेषण करें तो सामान्य रूप में एवं सरल शब्दों में हम यह कह सकेंगे कि मानव की सहजप्रवृत्तियों को जीवित रखना है। ये सहजप्रवृत्तियाँ परिवर्तन-शील हैं और इसके परिवर्तन का कारण बाह्य या सामाजिक परिवर्तन हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को बढ़ाना उपादेय है और तदनुसार मानवीय अन्तःसम्पर्क बनाए रखते हुए रचनात्मक कलाओं को प्रोत्साहन देना है। ऐसा करते हुए सहजप्रवृत्तियों को विवेक (ज्ञान का उचित उपयोग) का रूप देना है। सहज-प्रवृत्तियों के साथ यदि विवेक की संगति बैठती है तो आचार का नैतिक स्वरूप उदात्त हो जाता है और तब हम आचार को कर्म-सौंदर्य कह सकते हैं।

आचार और शील

आचार के नैतिक संदर्भ के साथ मनुष्य का शील जुड़ा हुआ है। आचार यदि सहजप्रवृत्ति में बदल जाए तो फिर वह मानव-चरित्र का सहज अंग हो जाता है और उसे हम शील कहते हैं। शील में सहजप्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि टेबल पर लड्डू रखे हुए हैं। कुछ व्यक्ति उन लड्डुओं को खा रहे हैं। खाने की क्रिया सभी की समान होने पर भी सब के शील में भेद हो सकता है। खानेवालों में एक ऐसा है, जो प्रसन्न भाव से (सहज में) आवश्यकतानुसार लड्डू हाथ में लेकर लड्डू का स्वाद लेते हुए धीरे धीरे खाता है। दूसरा ऐसा है, जो एकदम दो-तीन लड्डू हाथ में ले लेता है और खाने से काम रखता है। तीसरा ऐसा है, जो खाते हुए इधर-उधर देखता रहता है कि कोई उसे देख तो नहीं रहा है। वह खाता भी है, तो चाहता है कि किसी का ध्यान उसकी ओर न जाए। चौथा ऐसा है, जो खाने के लिए लड्डू की ओर हाथ बढ़ाता है, किंतु किसी के देख लिए जाने के भय से तुरत हाथ पीछे खींच लेता है, वह अवसर पाकर लड्डू लेता है और कहीं एकांत में पहुँच कर खाता है। एक ऐसा भी है, जो सहज भाव से खाते हुए सामनेवाले को अपने हाथ से लड्डू उठाकर देता है और खाने के सुख को बाँटकर खाता है। क्रिया एक ही होने पर सब के व्यवहारों में अंतर है। इस अंतर में व्यक्ति का शील ज्ञात होता है। इसी तरह का उदाहरण रामचरितमानस के बालकांड में है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

> जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।
> देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा।
> डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
> रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
> पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषण लोचन सुखदाई। [८]

मानस के उदाहरण में राम को देखनेवाले राम को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देख रहे हैं और उनके उस देखने के भाव से उनका अपना शील व्यक्त होता है। प्रभु तो वे ही हैं । शील का अर्थ साधारणतः हम लोग सुशील से ही लेते हैं किंतु किसी का शील उदात्त न हो तो उसे दुःशील भी कह सकते हैं। सामान्य रूप में किसी व्यक्ति के शील की पहचान के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के व्यवहार (आचरण में परिवर्तित) में व्यक्ति के भाव को पहचानें। यदि किसी व्यक्ति की भावना पर हमें विश्वास हो जाता है तो फिर हम व्यक्ति का मूल्यांकन केवल कर्म के आधार पर नहीं करते । यहाँ, यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ ली जानी चाहिए कि मनुष्य के कर्मों में (व्यवहार में) मनुष्य की भावना (इच्छाशक्ति के रूप में, सहजप्रवृत्तियों की माँग के अनुरूप) अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त हो जाती है । व्यक्ति चाहकर भी अपने आशय को छिपा नहीं सकता । मनुष्य से जो गलतियाँ होती हैं उसका कारण यह है कि कर्म या व्यवहार के प्रति दो विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ व्यक्ति के मन में कार्य करती रहती हैं । गलतियाँ मानसिक कार्य हैं । इस सम्बन्ध में फ्रायड ने लिखा है—'वे (गलतियाँ) आकस्मिक घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि गम्भीर मानसिक कार्य हैं। उनका अपना अर्थ है । वे दो भिन्न आशयों के एक साथ उपस्थित होने से, या यह कहना शायद अधिक ठीक होगा कि एक दूसरे को रोकने के कारण पैदा होती हैं ...... गलतियों के मानसिक स्वरूप में, थकावट, उत्तेजना, ध्यान न होना और मनोविक्षेप या ध्यान-बंटाई का कितना प्रभाव होता है ? ... ..'[१] फ्रायड ने अनेक उदाहरण देते हुए इस कथन का विश्लेषण और तदनुसार समाधान प्रस्तुत किया है । यहाँ यह सब इसलिए लिखा जा रहा है कि कर्म या व्यवहार के प्रति हमारी जो भावनाएँ रहती हैं, उन भावनाओं की पहचान में यह सब आवश्यक है । और गलती क्या है ? पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? ...सच देखा जाय तो इसका या इनका उचित उत्तर कर्म के प्रति हमारे मन में पाए जानेवाले भाव या आशय है। किसी ने कोई कार्य किया और करनेवाले के मन में अपने ही कर्म के प्रति यह भावना घर कर गई कि उसने वह कार्य गलत किया है । ऐसी स्थिति में उसके मन में ग्रंथि का निर्माण हो जाता है और इस ग्रंथि से स्वयं उसका ही नुकसान होता है । पाप से पाप की भावना बुरी है । पाप से छुटकारा पाया जा सकता है किंतु पाप की भावना से छुट-कारा सहज नहीं मिलता । सारी मानसिक व्याधियाँ इसी से पैदा होती हैं। मनोविकारों की चिकित्सा में सब से प्रमुख काम यही होता है कि मनुष्य को पाप की भावना से मुक्ति दिलाई जाय । जैसे हम चाहते हैं कि हमारा शरीर स्वस्थ रहे, उसी तरह यह भी उतना ही आवश्यक है कि हमारा मन भी स्वस्थ

रहे। मानसिक द्वंद्वों से मुक्त रहना आवश्यक है। मानसिक द्वंद्वों से मुक्त रहकर सहजप्रवृत्तियों को आचरण म सहज रूप में इस तरह अपना लें कि आचरण में सहजता आ जाए, यही शील है। सहज शब्द का प्रयोग यहाँ विशेष अर्थ में है। कबीर ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। कबीर ने कहा है :–

> सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोय
> पाँचू राखे परसती सहज कहीजै सोय। [१०]

कबीर के अर्थ में सहजता आ जाए तो द्वंद्वों से मुक्ति मिल सकती है।

कर्म-सौंदर्य का आधार

किसी कर्म का मूल्यांकन हम कैसे करते हैं? इसका उत्तर देने की अब आवश्यकता नहीं रही है। कर्म तो अनिवार्य है। इससे छुटकारा नहीं, किन्तु जो कर्म किए जाते हैं, उनका मूल्यांकन निश्चित ही कर्म के साथ हमारे मन में कर्म के प्रति जो भाव है, उनके आधार पर होता है। कर्म-सौंदर्य एक अर्थ में भाव-सौंदर्य ही है।

कर्म के साथ भावना समझ में आ जाने पर कर्म का आशय स्पष्ट होता है। कर्म तो बाह्य घटना है, जो व्यवहारों में मूर्त होती है, किन्तु भावना के आधार पर कर्म का निर्णय होता है। हमारे व्यवहारों में सत् और असत्, भले और बुरे, शुभ और अशुभ, पवित्र और अपवित्र, मंगल और अमंगल रूपों से सम्बन्धित निर्णय भावनाओं के द्वारा ही होते हैं। हमारा मानसिक स्वास्थ्य हमारी भावनाओं के आधार पर बनता है। हमारी सहजप्रवृत्तियों का जीवन हमारी भावनाओं का जीवन है। सहजप्रवृत्तियों में ही मानव-प्रकृति सहज रहती है। अतः कर्म के मूल्यांकन में सहजप्रवृत्तियों को निर्णय का आधार बनाया जाता है।

कर्म-सौंदर्य में सहज-प्रवृत्ति का उदात्त रूप होता है। यदि मानव-प्रकृत्ति (सहज-प्रवृत्ति) कर्म में झलकने लगे या बिंब रूप में व्यक्त होने लगे और जिन्हें देखकर मानव की गरिमा का ज्ञान हो तो वह कर्म सुन्दर लगता है, फिर वह कोई भी कर्म हो सकता है।

शरीर का आकार तथा रंग चाहे जैसा हो (सौंदर्य के ये प्रतिमान हैं) किन्तु यह आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ हो। स्वास्थ्य स्वयं सौंदर्य का सब से बढ़कर

प्रतिमान है। और स्वस्थ शरीर में भी यौवन (सब से सुन्दर शरीर इसी अवस्था में रहता है) सौंदर्य का प्रतिमान है। यौवनावस्था मे कर्म का जो उत्साह बना रहता है, वह अन्य अवस्था में नहीं रहता। ठीक इसी तरह हमारा मानस भी स्वस्थ रहे। कर्म-संपादन करने में या क्रियाओं में हम सहज व्यक्त हों; मन में किसी प्रकार की ग्रंथि न रहे, तो निश्चित ही कर्म-सौंदर्य का बोध होगा। एलोरा में गौतम बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं में अनेक मुद्राएँ हैं। विविध आसनों में बैठे हुए, वे दिखलाए गए हैं। इन प्रतिमाओं को हम सुन्दर कहते हैं। यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि इनमें सौंदर्य क्या है? तो उत्तर यह होगा कि भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं में शरीर तथा मन दोनों स्वस्थ दिखलाएँ गए हैं। दोनों की संगति सहज संतुलित है। बैठना स्वयं कर्म है। भगवान जिस तरह बैठे हुए दिखलाए गए हैं, उस बैठने में (बैठने की पद्धति में—कर्म में) शरीर के अवयवों की संगति सहज संतुलित है। इसी को मुद्रा (बैठने का वह ढ़ंग जिसमें भाव व्यंजित हुआ है) कहा गया है। भगवान बुद्ध के शरीर पर कोई आवरण नहीं है। उनका शरीर वस्त्रों से आच्छादित नहीं है। हम सौंदर्य कपड़ों में नहीं, शरीर की संगति तथा शरीर के स्वास्थ्य में देखते हैं। सौंदर्य को आवरणों से आच्छादित क्यों किया जाय? कलाकृतियों में (मूर्तियों में या शिल्प में) मानव आकार को (शरीर को) नग्न रूप में दिखलाए जाने का कारण यही है। हम वस्त्रों को देखकर नहीं, शरीर को (स्वस्थ शरीर को) देखकर प्रसन्न होते हैं। जो नग्न शरीर में शरीर का सहज-सौंदर्य नहीं देखते, उनकी भावना दूषित है। वस्त्रों के द्वारा नग्नता को आच्छादित किया जाता है। वह आच्छादन स्वयं अपने आप में बन्धन है। इस आच्छादन से हमारा शरीर ही आच्छादित नहीं होता, अपितु इसके साथ-साथ इस आच्छादन का प्रभाव हमारी भावनाओं पर भी पड़ता है अर्थात् इस आच्छादन का प्रयोजन दोहरा है। जलवायु द्वारा शरीर की सुरक्षा यह प्रयोजन भी है, किन्तु इस प्रयोजन को व्यवहार में अधिक प्रचलित होने पर भी अतिरिक्त प्रयोजन मानना चाहिए। मूल बात सौंदर्य की है और हम वास्तविक सौंदर्य शरीर के निरावृत्त रूप में ही अनुभव करते हैं। भगवान बुद्ध की प्रतिमाएँ निरावृत्त हैं। हम केवल मुख ही नहीं, उनके हाथ पाँव, कंधा, ललाट, वक्षस्थल, जिस किसी भाग को देखें, उस भाग में गरिमा दिखलाई देती है। यदि भगवान बुद्ध की प्रतिमा वस्त्रों में आच्छादित दिखलाई जाती, तो हम उनके सहज स्वस्थ शरीर कोनहीं देख पाते। इस स्वस्थ शरीर में भावना भी स्वस्थ दिखलाई गई है। प्रतिमा को देखकर

मन पर जो मानसिक प्रभाव पड़ता है या मन में जिस प्रकार के भाव उदित होते हैं उनका सम्बन्ध मन पर स्थायी रहता है और यह स्थायी प्रभाव मानव की उदात्त वृत्तियों का है। गौतम बुद्ध की प्रतिमा में जो भाव व्यंजित है, उसमें द्वन्द्व नहीं (निर्द्वन्द्व है), अशान्ति नहीं (शान्ति है), विकार नहीं (अविकारी है) और अज्ञान भी नहीं (ज्ञान की आभा उनके मुख पर विराजमान है)। यह सब केवल मुख को देखकर ही नहीं, अपितु उनके शरीर के किसी भी भाग को देखें, तो इन भावों की अभिव्यंजना उनके अंग-प्रत्यंग से होती हुई दिखलाई देगी। यही कारण है कि हम गौतम बुद्ध की प्रतिमा को सुन्दर कहते हैं।

आचार और सभ्यता

हमारे आचारों का सम्बन्ध हमारी सभ्यता से है। सभ्यता क्या है ? इसका उत्तर चाहे जिस रूप में दें किन्तु उसमें हमारे आचारों का प्रमुख स्थान है। सभ्यता में आचरणों को ललित, सामाजिक रूप में स्वीकृत तथा वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न, बनाया गया हैं। सभ्यता में सहजप्रवृत्तियों को सुन्दर ढ़ंग से (कलात्मक रूप में कहें या ज्ञान का उपयोग करते हुए कहें) आच्छादित किया गया है। सरल उदाहरण यह है कि हम कपड़े पहनते हैं। कपड़े पहनना सभ्यता है। कपड़े से हम अपना तन ढाँकते हैं। किन्तु प्रयोजन केवल तन ढाँकने मात्र का नहीं है। इस ढ़ाँकने में सहजप्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखने की भावना भी है। सभ्यता एक अर्थ में मानव-प्रकृति को आच्छादित करती है। यही नहीं, वह व्यवहार को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है।

वेश-भूषा में हमारी सभ्यता व्यक्त होती है। सभ्यता के विस्तार में जाने से पूर्व यदि इसी विषय पर गंभीरता से विचार करें कि कपड़े पहनना सभ्यता क्यों है और दिगम्बर रूप में (बिना वस्त्रों के, दिशाएँ जिसका अम्बर हैं, उस रूप में) रहना क्यों नहीं; तो सभ्यता के मूल प्रयोजन समझ में आ सकते हैं। यह सब जानते हैं कि सभी सभ्य जातियाँ वस्त्र धारण करती हैं। जो जातियाँ आज भी वस्त्र धारण नहीं करती और प्रकृति से अपना सम्बन्ध रखते हुए सहज रूप में रहती हैं, उन्हें हम सभ्य नहीं कहते। धरती के भूखण्ड पर आज भी ऐसी जातियाँ हैं। वन में रहनेवाले या नगरों से दूर रहनेवाले प्रायः नगर में रहनेवाले के समान वस्त्र धारण नहीं करते और इस आधार पर सभ्यता का अंतर पहचाना जाता है।

वस्त्र धारण करने का एक प्रयोजन तो यह है कि जलवायु के प्रभाव से मुक्त रहना है और देह को सुरक्षित रखना है। सभ्यता में सुरक्षा की भावना है। केवल इसी आधार पर वस्त्र धारण करने के विविध रूपों पर विचार करें, तो ऋतुओं का वस्त्रों पर पड़नेवाला प्रभाव देख सकते हैं। सर्दी–गर्मी तथा बरसात में पहने जानेवाले वस्त्रों में भेद है। ठीक इसी तरह व्यवसायों का प्रभाव भी वेशभूषा पर है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक हम जो वस्त्र पहनते हैं, उनमें अवस्था क्रम से वस्त्रों के पहनावे में अन्तर आता है। इस तरह वस्त्र पहनने में ऋतु–कर्म–अवस्था तीनों ही प्रयोजनीय रहते हैं।

सभ्यता में आच्छादन है और यह आच्छादन वस्त्र–धारण तक ही सीमित नहीं है। और आच्छादनों को पहचानने के लिए वस्त्र के आच्छादन के मनोविज्ञान को पहचानें। आज हम अपने आसपास जिन लोगों को देखते हैं, उनमें सब (प्रायः कहना चाहिए, कुछ अपवाद हो सकते हैं) वस्त्र धारण करते हैं। सब को वस्त्रों में देखते रहने के कारण हमारे मन में मनोवैज्ञानिक रूप से मनुष्य के देह के साथ वस्त्र की भावना जुड़ गई है। आशा के विपरीत उदाहरण हम देख लेते हैं, तो (संस्कार के विपरीत आचरण के कारण) कुछ विचित्र लगता है। कोई व्यक्ति नग्न–रूप में किसी मार्ग से गुजर जाए तो दर्शकों का ध्यान उसकी ओर तुरत चला जाता है। इसके पीछे मनोविज्ञान है। क्या एक ही मनुष्य को वस्त्रों में देखने और नग्न रूप में देखने में अन्तर नहीं है? अन्तर है। इस अन्तर में शील है। श्लील और अश्लील की भावना वस्त्रों से जुड़ी हुई है। नैतिक कर्मों के साथ हम वस्त्रों को जोड़ते हैं। सामाजिक कर्मों में वस्त्र अनिवार्य है। वस्त्रों के आधार पर संस्कार होते हैं। यहाँ तक कि हम अन्तिम संस्कार के समय भी (और संस्कारों के समय तो वस्त्र का उपयोग होता ही है) शव को वस्त्र से आच्छादित करते हैं। इन सब में हमारी सभ्यता व्यक्त होती है।

वस्त्रों ने हमारी सहजात प्रवृत्तियों का संस्कार किया है और इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण में सहायता पहुँचाई है। सामान्य रूप में यौन वृत्ति को हम मूल सहजात वृत्ति मान सकते हैं। और इस वृत्ति के साथ वस्त्राभूषण घनिष्ट रूप में जुड़े हुए हैं। सहजात प्रवृत्तियों का दमन उचित है या अनुचित इसका उत्तर मनोविज्ञान देगा किन्तु सामान्य रूप में दमन उचित नहीं माना जाएगा। हम चाहेंगे कि हमारी सहज वृत्तियाँ सहज रूप में व्यक्त हों। जीवन का सुख सहज प्रवृत्तियों को रोकने में नहीं, उनके तृप्त करने में है। हमारा व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन से भिन्न होता है। इस भिन्नता का एक कारण यह

भी है कि व्यक्तिगत जीवन में हम सहज प्रवृत्तियों के अधिक निकट होते हैं और सामाजिक जीवन में हम अपने को आच्छादित रूप में (सभ्यता के आवरण में) अधिक व्यक्त करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि व्यक्तिगत कार्यों में वस्त्रों के आच्छादन से हम अधिक मुक्त हैं और सामाजिक कार्यों में आच्छादन की आवश्यकता अधिक है। अधिक विस्तार में न जाते हुए यदि इस संदर्भ में (सभ्यता से युक्त जीवन के संदर्भ में) कला पर विचार करें। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हम व्यक्तिगत जीवन को, सामाजिक संदर्भ देना चाहते हैं और इस चाह में हम अपनी कला को अभिव्यक्ति देते हैं। कला ने हमारी सहज प्रवृत्तियों का परिष्कार किया है और व्यक्तिगत जीवन को सदैव सामाजिक संदर्भ में नैतिक स्वीकृति दिलाने में सहायता पहुँचाई है। इसी में हमारा कर्म–सौंदर्य भी दिखलाया गया है।

व्यक्तिगत जीवन (Personal Life) के साथ सामाजिक जीवन (Social Life) की संगति बैठाना सभ्यता का कार्य है। कलाकार व्यक्ति-जीवन को महत्त्व देते हैं। इसीलिए कलाओं में वे सहजात प्रवृत्तियों को अधिक स्थान देते हैं। इस संदर्भ में फ्रायड ने कला का (यहाँ इसे सभ्यता के अर्थ में ले सकते हैं) सुंदर विश्लेषण किया है। फ्रायड लिखता है – 'कल्पना से फिर यथार्थ में आने का एक रास्ता है और वह है—कला'।[११] यहाँ कल्पना के जीवन में और यथार्थ के जीवन में भेद किया गया है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि कल्पना का जीवन (भले ही यथार्थ से सम्बन्ध न रखे) व्यक्ति की सहजात प्रवृत्तियों का जीवन होता है और उसमें व्यक्तिगत-जीवन को सामाजिक जीवन की तुलना में अधिक स्थान प्राप्त होता है। यथार्थ जीवन तो सच्चाई है या इसे वास्तविकता भी कह सकते हैं। इन दोनों को जोड़ने में कला सहायक होती है, यह मुझे कहना है। इस संदर्भ में फ्रायड के कथन पर विचार किया जाना चाहिए। ऊपर जो फ्रायड की पंक्ति दी गई है, उसी के आगे फ्रायड ने लिखा है – 'कलाकार में भी अंतर्मुख (यहाँ भी का प्रयोग स्नायु-रोगी के अंतर्मुख होने के कारण है) प्रवृत्ति होती है, और थोड़ा और चलते ही वह स्नायु-रोगी बन सकता है। वह ऐसा व्यक्ति है जिसे बहुत प्रबल और जोर-शोर वाली निसर्ग-वृत्तीय आवश्यकताएँ प्रेरित करती हैं। वह सम्मान, शक्ति, धन, यश और स्त्रियों का प्रेम पाने की लालसा रखता है, पर उसके पास ये संतुष्टियाँ पाने के साधन नहीं है। इसलिए असंतुष्ट लालसा वाले अन्य व्यक्तियों की तरह वह यथार्थ से हट जाता है, और अपनी सारी दिलचस्पी और अपना सारा राग भी कल्पना के जीवन में अपनी इच्छाओं की सृष्टि पर ले जाता है, जहाँ से कुछ ही दूर चलने

पर स्नायु रोग आ सकता है। उसे अपना परिवर्धन करते करते स्नायु-रोग पर पहुँचने से रोकने के लिए बहुत से कारण इकट्ठे होते हैं। यह बात काफी प्रसिद्ध है कि अधिक तर कलाकार स्नायु-रोग के कारण अपनी क्षमताओं के आंशिक निरोध से पीड़ित होते हैं। संभवतः उनकी शरीर रचना में उदात्ती-करण की प्रबल क्षमता होती है और द्वंद्व पैदा करने या न करने के कारणरूप दमनों में कुछ लचक होती है, पर कलाकार यथार्थता की ओर लौटने का मार्ग इस तरह पा लेता है।'[१२] फ्रायड का कहना यह है कि स्नायु-रोगी कल्पना से यथार्थ की ओर न लौट पाए किंतु कलाकार लौट सकता है। उसका कहना है कि कल्पना पर केवल कलाकार का ही अधिकार है, ऐसी बात नहीं, कल्पना सारी मानव जाति में मिलती है किंतु कलाकार कल्पना से जो आनंद प्राप्त कर सकते हैं, वह आनंद दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते। कलाकार की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए वह लिखता है– 'जो लोग कलाकार नहीं हैं, वे कल्पना से बहुत सीमित आनंद हासिल कर सकते हैं। उनके क्रूर दमनों के कारण वे उन थोड़े-से दिवा-स्वप्नों का ही आनंद ले पाते हैं, सब कल्पनाओं का नहीं। सच्चे कलाकार के पास कुछ और भी चीजें होती हैं। सब से पहले तो वह अपने दिवा-स्वप्नों को इस तरह विशद करना जानता है कि उनमें से वह व्यक्तिगत अंश निकल जाए जो अपरिचित कानों को खटकता है और दूसरों के लिए वे दिवा-स्वप्न रसनीय और रमणीय बन जाते हैं। वह यह भी जानता है कि उनमें इतना काफी परिवर्तन कैसे कर दिया जाए कि आसानी से यह पता न चल सके कि उनकी उत्पत्ति प्रतिषिद्ध स्रोतों से हुई है। इसके अलावा, उसमें यह रहस्यमय प्रवीणता होती है कि अपनी निजी सामग्री को इस तरह से बढ़ा सकें कि वह उसकी कल्पना के मनोबिंबों को ठीक ठीक अभिव्यक्त कर सके, और फिर, वह यह भी जानता है कि उसके कल्पना जीवन के इस प्रतिबिंब से ऐसी प्रबल सुखधारा कैसे जोड़ दी जाय कि कम से कम कुछ देर के लिए यह दमनों से अधिक शक्तिशाली हो जाए और उन्हें बाहर कर दे। जब वह यह सब कुछ कर सकता है तब दूसरों के लिए, उनके अपने सुख-स्रोतों से आराम और सांत्वना पाने का रास्ता खोल देता है और इस तरह उनकी कृतज्ञता और प्रशंसा प्राप्त करता है; तब उसे अपनी कल्पना द्वारा वह चीज प्राप्त हो गई है जो पहले वह कल्पना में ही प्राप्त कर सकता था : सम्मान, शक्ति और स्त्रियों का प्रेम।'[१३] फ्रायड का यह कथन कुछ विस्तृत हो गया है। इस कथन से जो बात स्पष्ट होती है, वह यह है कि व्यक्तिगत जीवन को (जिसमें सहजात प्रवृत्तियाँ अधिक कार्य करती रहती हैं) सामाजिक

स्वरूप देकर उसे स्वीकृति दिलाने में कलाकार अपनी कला का उपयोग करते हैं और इस तरह से आचरणों को सभ्य रूप दिया जाता है।

आचार बनाम फैशन

इसी संदर्भ में फैशन पर विचार किया जा सकता है। फैशन अंगरेजी शब्द है। यह आचार का ही रूप है और हिन्दी में इसे चाहें तो भूषाचार कह सकते हैं। शब्द के प्रयोग से शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है, तो प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। मैं फैशन शब्द का प्रयोग ही कर रहा हूँ। फैशन का सम्बन्ध सभ्यता से है। उसमें सौंदर्यबोध की भावना है। फैशन का सम्बन्ध प्रचलित आचारों (जिनका व्यवहार हो रहा है, उन आचारों से) से है। फैशन में सौंदर्य के बदलते प्रतिमानों को अभिव्यक्ति मिलती है। एक अर्थ में फैशन कर्म सौंदर्य (आचार) का शृंगार है। शृंगार का अर्थ मैं यहां सजावट तथा सुन्दर अभिव्यक्ति ले रहा हूँ।

अभी ऊपर फ्रायड के कथन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। इस विश्लेषण के संदर्भ में एलोरा तथा अजंता की कलाकृतियों पर विचार करना चाहिए। हम एलोरा तथा अजंता की कला को (शिल्प एवं चित्र को, जो प्रस्तरों में अभिव्यक्त है, उसको) सुन्दर कहते हैं। इन कलाकृतियों में कर्म-सौंदर्य (आचार) के विविध रूप हैं। इन विविध रूपों को हम फैशन कह सकते हैं। यह फैशन इस समय में प्रचलित न हो किन्तु किसी समय (जब ये कलाकृतियाँ निर्मित हुई, उस समय) में इसका प्रचलन रहा है, यह बात प्रमाणित है। यहीं पर मैं फ्रायड के कथन को फिर दोहराना चाहता हूँ। और वह है ... 'कल्पना से फिर यथार्थता में आने का एक रास्ता है और वह है — कला।' हम अजंता तथा एलोरा के कलाकारों पर (शिल्पकारों तथा चित्रकारों पर) ही विचार करें। प्रथम अवलोकनीय तथ्य तो यह है कि धर्म और कला दोनों को अलग नहीं किया गया है। यों कहिए कि धर्म को कलात्मक रूप दिया गया है। व्यक्तिगत जीवन के (जिसमें सहज प्रवृत्तियों को स्थान अधिक है) दिवा-स्वप्नों को रसनीय और रमणीय रूप को इस तरह से प्रस्तुत किया गया कि उसका व्यक्तिगत अंश उसमें से निकल गया (व्यक्तिगत जीवन उसमें होते हुए भी और प्रधान रूप से होते हुए भी) और वह अब किसी को खटकता नहीं है। इन कलाकृतियों में निषेधात्म (सामाजिक जीवन के) रूप हैं, जिसे संभवत: धर्म स्वीकार न करे किन्तु कलाकारों के कौशल के कारण (सहज प्रवत्तियों को सार्वजनीन रूप देने के कारण) उन सब रूपों को धर्मस्थान में

जगह मिल गई है। क्या एलोरा तथा अजंता धर्मस्थान नहीं हैं ? इस ओर तत्काल ध्यान नहीं जाता। इसका कारण यह है कि कला ने धर्म को इस तरह से आत्मसात् किया है कि वहाँ धर्म, धर्म नहीं रहा, कला हो गया। दर्शक और पर्यटक जो वहाँ पहुँचते है, इसका कारण यह नहीं कि वे तीर्थयात्रा (धार्मिक स्थानों की यात्रा) के लिए वहाँ पहुँचे हैं, वे वहाँ कलाकृतियों को देखने के लिए पहुँचते हैं। जैसे लोग काशी या रामेश्वरम् को जाते हैं, उस तरह से लोग एलोरा तथा अजंता नहीं पहुँचते। एलोरा के निकट बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक ज्योतिर्लिंग 'घृष्णेश्वर' का मन्दिर है। धर्म में आस्था रखनेवाले लोग वहाँ पहुँचते हैं। किन्तु इन लोगों की संख्या कलाकृतियों को देखने आनेवालों की तुलना में नगण्य है।

एलोरा तथा अजंता में हिंदू, बौद्ध तथा जैन धर्म को कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है। एलोरा का कैलाश विश्व की कलाकृतियों में (विशेष रूप से हिन्दू धर्म का) अपना नमूना आप है। बौद्ध धर्म की दोनों प्रधान शाखाओं (हीनयान तथा महायान) के विहार–स्थल वहाँ है। हीनयान के विहार–स्थलों में कलाकृतियाँ नहीं है। उनमें केवल कक्ष हैं, जहाँ भिक्षु रह सकते हैं। इसी तरह जैन धर्म को भी (तीर्थंकरों के रूपों को) अभिव्यक्ति मिली है। इन तीनों धर्मों को समन्वयात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। इससे भारतीय एकात्मक भावना को बल मिला है। फिर भी यह कहने में संकोच नहीं कि एलोरा तथा अजंता में बौद्ध धर्म की कलाकृतियों की प्रधानता है। इन कलाकृतियों में महायान सम्प्रदाय को विशेष स्थान प्राप्त है। यह बात भी प्रमाणित है कि जिस समय में इन कलाकृतियों का निर्माण हुआ, उस समय बौद्ध–धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। महायान सम्प्रदाय के सम्बन्ध में रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है – 'भगवान् (गौतम बुद्ध) के पांच-सौ वर्ष बाद जब बौद्ध–धर्म के भीतर से महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ, तब यह सम्प्रदाय बौद्ध कम, हिन्दू अधिक हो गया। बुद्ध ईश्वर के सम्बन्ध में मौन रहे थे, महायान सम्प्रदाय ने खुद बुद्ध को ही ईश्वर बना दिया। बुद्ध ने देवी–देवताओं की पूजा की मनाही की थी, महायान सम्प्रदाय ने बौद्ध-धर्म के भीतर देवी-देवताओं की पूरी सेना खड़ी कर दी। बुद्ध के उपदेश तत्कालीन लोकभाषा में दिए गए थे, महायान के चिन्तकों ने अपना सारा साहित्य संस्कृत में लिखना आरम्भ किया। बुद्ध का कहना था कि मोक्ष के अधिकारी केवल संन्यासी हो सकते हैं, महायान ने मोक्ष की आशा उनके सामने भी रख दी जो संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे ... ... प्रत्येक निराकारी मत साकारवाद की ओर बढ़ता है।

प्रत्येक प्रकार के वैराग्य की अधिकता उसे भोगवाद की ओर ले जाती हैं। इसी प्रक्रिया ने महायान को जन्म दिया।'[१४] यह सब लिखने का कारण यह है कि एलोरा तथा अजंता की कलाकृतियों में भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएँ (महायान के अनुसार) हैं। निराकार मत साकार रूप में हैं। हिन्दू धर्म के पौराणिक आख्यानों को जैसे कैलाश में अभिव्यक्ति मिली है ठीक उसी तरह गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित प्रसंगों को भी व्यक्त किया गया हैं। बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म की तरह साकार रूप में प्रस्तुत है। इस नाते धर्मों का समन्वय कलाकृतियों के माध्यम से हुआ हैं।

धर्म और कला इन दोनों में एलोरा तथा अजंता में कला की प्रधानता है, इसे सब स्वीकार करेंगे। यह बात दूसरी है कि कला को ठीक ढ़ंग से समझने के लिए (कला की व्याख्या के लिए) धर्म जानना जरूरी हैं। ऐसी कोई भी कलाकृति नहीं मिलेगी, जिसका सम्बन्ध धर्म से (कोई भी धर्म हो) नहीं हैं। धर्म को आकारों में (साकार रूप में) प्रस्तुत करने का अर्थ, उन पात्रों को धर्म के अनुसार आचरित रूप में दिखलाना है। धर्म की ओर से जो देशना हो या आदेश हो उनको आचरित करना आवश्यक है। इन आचरित रूपों को (गृहस्थ के अनुकूल धर्म की व्यवस्था को) कलाकृतियों में ढ़ाला गया है। मूल विषय की ओर आते हुए हम यह कह सकते हैं कि ये कलाकृतियाँ 'आचार' (कर्म-सौंदर्य) के उदाहरण हैं। देवी-देवताओं के व्यक्तिगत जीवन को (सह-जात प्रवृत्तियों से युक्त रूप में) चित्रित किया गया हैं। शृंगार (जिसे रस-राज कहा गया है) की अनेक मुद्राएँ देखने मिलती हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि शृंगार के साथ शान्त भी, राग के साथ विराग भी वहाँ मौजूद है। वैराग्य की भावना ने (अधिक बन्धन ने) दमित वृत्तियों को कलात्मक रूप में इस तरह व्यक्त किया है कि दमित वृत्तियों के व्यक्तिगत अंश का परिहार हो गया है और वे वृत्तियाँ सहज आचरण के रूप में धार्मिक भावना का अंग हो गई हैं।

फैशन की बात ऊपर कही गई है। एलोरा तथा अजंता में फैशन के अनेक नमूने वेश–भूषा के रूप में दिखलाई देते हैं। सच्चाई तो यह है कि इस फैशन ने ही (धर्म के इस कलात्मक रूप ने) विश्व भर के पर्यटकों का ध्यान अपनी ओर आर्काषित किया है। सचमुच है भी खूबी की बात कि धर्म का धर्म होते हुए भी कला रूप में है और कला की कला होते हुए भी फैशन है।

पूछनेवाले यह पूछ सकते हैं कि इसे फैशन क्यों कहा जा रहा है ? फैशन शब्द में नवीन से नवीन (Latest) भूषाचारों को स्थान दिया जाता है और धर्म शायद ही फैशन को स्वीकार करें। फैशन का अर्थ प्रायः जिस रूप में प्रचलित है, उस अर्थ में धर्म का फैशन से विरोध है। इस पर भी यह मानना पड़ेगा कि एलोरा तथा अजंता की कलाकृतियों में फैशन है।

फैशन में ऐश्वर्य तथा भोगवाद की भावना होती है। फैशन में जीवन के उन आचरणों को सामाजिक रूप दिया जाता है, जो मूलतः व्यक्ति जीवन के आचरण का (सहजात प्रवृत्तियों से सम्बन्धित आचरण का) अंग होती हैं। फैशन में व्यक्ति–आचरण को सामाजिक मूल्य (सम्मान या दरजा) के रूप में देखा तथा परखा जाता है। फैशन में प्रतियोगिता की भावना रहती है। सजावट तथा श्रृंगार के नवीनतम नमूनों को कर्म के साथ आबद्ध करना फैशन का काम है। यह सब होते हुए भी फैशन में (वेश–भूषा में) यौनवृत्ति को आकर्षित करने की भावना प्रच्छन्न रूप में रहती है। छोटा-सा उदाहरण यह है कि केशवदास रामचंद्रिका में सीता के सौंदर्य का वर्णन करना चाहते थे। किन्तु वे (रीतिकालीन श्रृंगार के—फैशन के—अनुकूल) ऐसा नहीं कर सके। केशव ने अनुभव किया कि जगत् माता को इस रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है। उन्हें वर्णन तो करना ही था (वर्णन को वे कैसे छोड़ते ?) अतः सीता के स्थान पर दासियों का (शिख–नख रूप में) वर्णन कर दिया। यह सब वर्णन रामचंद्रिका के इकतीसवे प्रकाश में हैं। इस वर्णन पर टिप्पणि लिखते हुए लाला भगवानदीन लिखते है – 'यहाँ पर एक सखा द्वारा सियदासी का शिख-नख वर्णन कराना (सीता का नहीं) कवि के भक्ति मर्यादा ज्ञान का द्योतक है। जिसकी दासियाँ ऐसी हैं, वहाँ महारानीजी कैसी होंगी—व्याज-स्तुति अलंकार है।'[१५] यह उदाहरण मैंने इसलिए दिया कि दासियों के वर्णन में (भले ही व्याजस्तुति हो) श्रृंगार है और यह श्रृंगार यौन-आकर्षण का है। जिसकी दासी, ऐसी है, तो महारानी कैसी होंगी ? फैशन से सामाजिक सम्मान तथा दरजे का बोध होता है। लोग नौकर को देखकर मालिक पहचानते हैं। जब नौकर फैशन से रहने लगता है, तो मालिक इससे अधिक शौकीन होगा ही। संक्षेप में फैशन के साथ ऐश्वर्य, सामाजिक दरजा, सम्मान, कलात्मक बोध, यौन-आकर्षण, आदि सब मिले-जुले होते हैं।

फैशन के इस आलोक में एलोरा तथा अजंता की कलाकृतियों को देखना चाहिए। एलोरा तथा अजंता का फैशन (ऐश्वर्य का समुन्नत रूप) गौतम बुद्ध के चरणों में (समर्पण भाव से) झुकता हुआ दिखलाया गया है। दिनकर की पंक्ति है—

'क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।' ठीक इसी तरह ऐश्वर्य यदि वैराग्य में बदल जाए या वैराग्य के चरणों में झुक जाय, तो इससे वैराग्य का मूल्य बढ़ता है। एक तो वह है, जिसके पास कुछ नहीं है, और वह जीविका के लिए भिक्षा मांग कर अपना निर्वाह कर रहा है। यदि ऐसा व्यक्ति भिक्षु हो जाय और वैराग्य स्वीकार कर ले, तो इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। दूसरे वह है, जिसको ऐश्वर्य की सारी सामग्री हस्तामलक होते हुए भी उसको तृणवत् त्याग दे और वैराग्य को ठीक वैराग्य के अर्थ लेकर भिक्षु हो जाय। एलोरा और अजंता का फैशन ऐसा है जिसमें दोनों विरोधी भाव—श्रृंगार तथा वैराग्य—अपने चरम उत्कर्ष पर है। दोनों के उत्कर्ष ने एक-दूसरे के मूल्य में वृद्धि की है। श्रृंगार के कारण वैराग्य का मूल्य बढ़ा है। गौतम बुद्ध के पिता ने गौतम बुद्ध को दु:ख-दर्शन से बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किया। गौतम बुद्ध के (सिद्धार्थ के) लिए माया का इंद्रजाल (ऐश्वर्य का विराट् रूप) रचा; किंतु... किंतु गौतम तो सिद्धि-हेतु चले गए। यह सारा इंद्रजाल जिसके कारण गौतम को (सिद्धार्थ को) रोकने का प्रयास किया गया, एलोरा तथा अजंता में साकार है। संभवतः पर्यटक तथा दर्शक एलोरा तथा अजंता में उस इंद्रजाल को देखने पहुँचते हैं। देखनेवाले देखकर उस इंद्रजाल में खो जाए किन्तु गरिमा उस इंद्रजाल की इस नाते है (और वह इंद्रजाल इसलिए नहीं अखरता) कि उसने अपने को शान्त भाव में समर्पित कर दिया। गौतम बुद्ध की विशाल-काय प्रतिमाओं में यह सब व्यक्त है। यदि दर्शक गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं को इंद्रजाल से सम्बद्ध कर देखें तो उन्हें विराट् का बोध हो सकता है। उनकी अमित आभा सबको प्रकाश दे सकती है।

उपसंहार

आचार (कर्म–सौंदर्य) मूलतः मनुष्य की कार्यप्रणाली तथा व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले रूप हैं। इनसे हम मुक्त नहीं, आबद्ध हैं। मनुष्य के आचरणों में मनुष्य के संकल्प व्यक्त होते हैं और इनके विविध रूप हैं। यदि व्यक्ति-जीवन के संकल्प में दूसरे व्यक्ति के जीवन के संकल्प से भेद हो तो फिर संकल्पों की टक्कर होती है और आचरण बदलते रहते हैं। यह इतिहास–क्रम है। आचारों में इस तरह नवीनीकरण होता रहता है। धर्म हो या विज्ञान, दोनों का व्यावहारिक प्रयोग आचरण में होता है। इस आधार पर हमारा ज्ञान कसौटी पर तुलता है और हम अपने को मूर्त रूप देते हैं। इस सम्बन्ध में हैन्स राइखेन बाख ने आचार को मानव समाज की अभिव्यक्त संकल्पात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वह लिखता है– "मानव–समाज का आचारीय

नवीनीकरण पारस्परिक तालमेल का परिणाम है। विभिन्न लक्ष्यों के परस्पर सम्बन्धों की मान्यता इस प्रक्रिया में केवल सीमित रूप से कारण बनती है। अधिक महत्त्वपूर्ण भाग असंज्ञानात्मक प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का होता है, जिनकी परिणति व्यक्तियों से व्यक्तियों, व्यक्तियों से वर्ग और वर्ग से व्यक्तियों के माध्यम से होती है। संकल्पों की पारस्परिक टक्कर समस्त आचारात्मक विकास की चालक शक्ति है। अतएव यह स्वीकार किया जा सकता है कि नैतिक मूल्यांकन को बदलने में शक्ति का अग्रणी स्थान है ... यदि शक्ति की नाप किसी के संकल्पों की दूसरे के संकल्पों के विरुद्ध स्थापित करने में प्राप्त सफलता के रूप में की जाय। इस शब्द का व्यापकतम अर्थ शस्त्रों की शक्ति तक सीमित नहीं है। शक्ति के अन्य स्वरूप भी उतने ही, या और अधिक, सक्षम हो सकते हैं सामाजिक संगठन की शक्ति, किसी ऐसे सामाजिक वर्ग की शक्ति, जिसने अपने पारस्परिक हितों को ढूंढ़ निकाला है, सहकारिता दलों की शक्ति, वाणी और लेखन की शक्ति, उल्लेखनीय व्यवहार के प्रदर्शन के द्वारा वर्ग के स्वरूप को निर्माण की शक्ति। हाँ, वह शक्ति ही है, जो सामाजिक बन्धनों का नियंत्रण करती है।"[१] गरज कि यह समझना चाहिए कि हमारे आचार हमारे संकलपात्मक रूपों को व्यक्त करते हैं। हमारे संकल्प बदलते हैं तो हमारे आचार बदलते हैं। हमारे भीतर का रूप ही अभिव्यक्त रूप में आचार होते हैं और इन आचारों को पहचानना, जानना तथा ठीक परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करना सीखना मानव समाज के सौंदर्य को पहचानना है।

संदर्भ

१. मानव प्रकृति और आचरण, जॉन ड्यूई, अनुवादक : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार पृ. ८२।

२. स्पिनोजा, नीति, अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. १०६।

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरंग वामन काणे, अनुवादक : अर्जुन चौबे काश्यप, प्रथम भाग, पृ. ३५९।

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे, अनुवादक, अर्जुन चौबे काश्यप, प्रथम खण्ड, पृ. ३६३-३६४।

५. धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे, अनुवादक : अर्जुन चौबे काश्यप, प्रथम खंड, पृ. ३६० ।

६. नैतिक जीवन का सिद्धान्त, जॉन ड्यूई, अनुवादक : कृष्णचन्द्र, पृ. ९ ।

७. मानव-प्रकृति और आचारण, जान ड्यूई, अनुवादक : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृ. १०९-११० ।

८. रामचरितमानस, बालकांड, २–४/२४१ ।

९. फ्रायड, मनोविश्लेषण, अनुवादक : देवेंद्रकुमार वेदालंकार, पृ. ३५ ।

१०. कबीर, ग्रंथावली, सहज कौ अंग, सं. : श्यामसुन्दरदास, दोहा संख्या २ ।

११. फ्रायड, मनोविश्लेषण, अनुवादक : देवेन्द्रकुमार वेदालंकार, पृ. ३४२ ।

१२. फ्रायड, मनोविश्लेषण, अनुवादक : देवेन्द्रकुमार वेदालंकार, पृ. ३४२-३४३ ।

१३. फ्रायड, मनोविश्लेषण, अनुवादक : देवेन्द्रकुमार वेदालंकार, पृ. ३४३ ।

१४. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, (तृतीय संस्करण) पृ. १७४ ।

१५. केशव-कौमुदी, भाग २, टीकाकार, लाला भगवानदीन, पृ. १६३ ।

१६. वैज्ञानिक दर्शन का उदय, हैन्स राइखेन बाख, अनुवादक : अनन्त मराल शास्त्री, पृ. २९३ तथा २९४।

○ ○
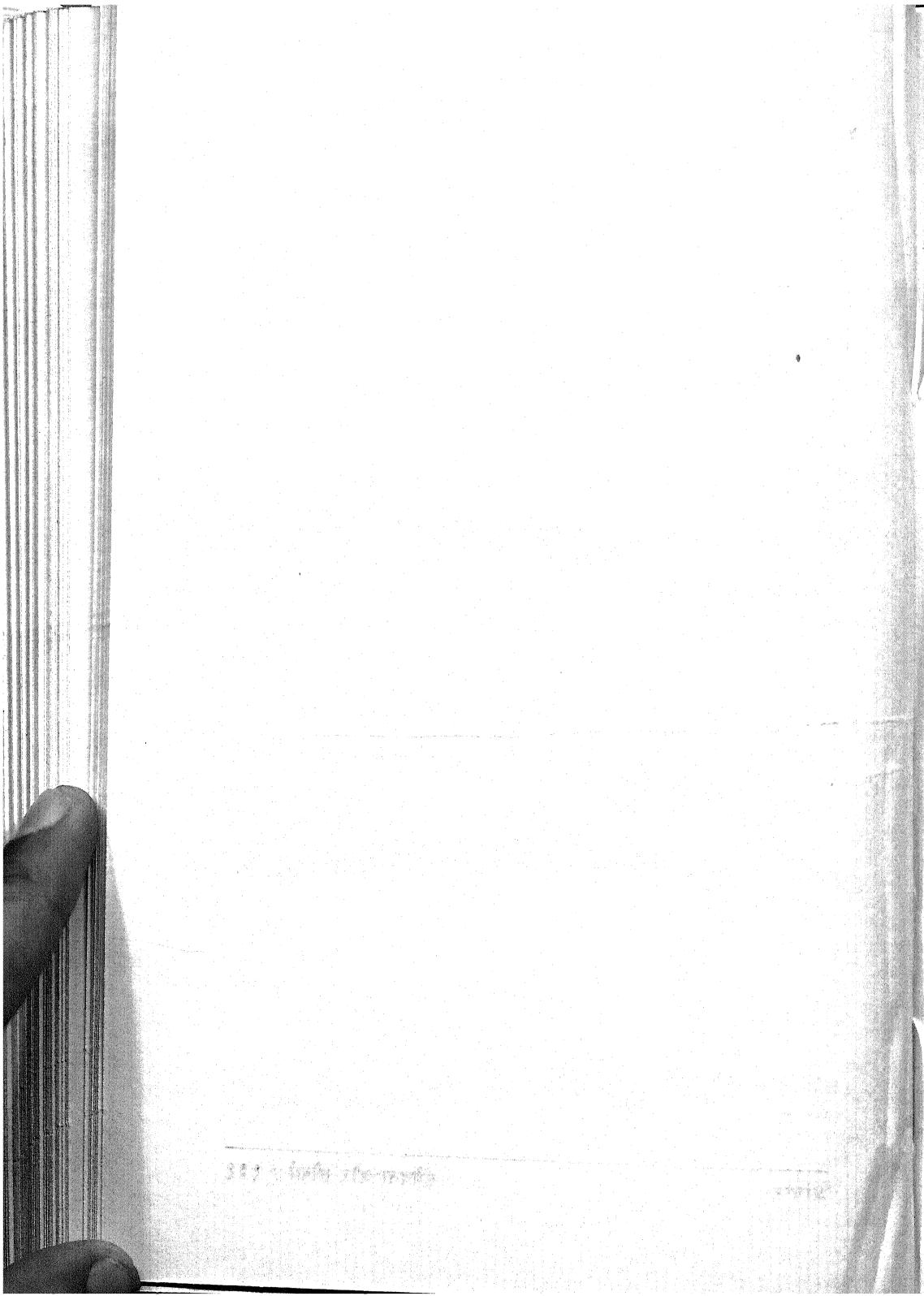
अध्यात्म

अध्यात्म में 'अधि' और 'आत्म' दो शब्द हैं। 'अधि' का अर्थ विषयक या संबंधी है, इस नाते अध्यात्म का अर्थ आत्म-विषयक या आत्म-संबंधी हुआ। अध्यात्म आत्म-विद्या है। यह आत्मा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर रंग, आकार या आचार की तरह देना सरल नहीं हैं। आत्मा के लक्षण बतलाना बड़ा कठिन काम है। जो आत्मा को पहचानता है, वह तो परमात्मा को भी जान जाता है। यह तो ज्ञान का अनुभव है। संत तथा महात्मा पुरुषों ने इसके लिए साधना की है और इस तरह साधना के उपरान्त उन्हें जो अनुभव हुआ है, उसे उन्होंने व्यक्त किया है। उन अनुभवों से हम लाभ उठा सकते हैं। यह विद्या रहस्यमयी लग सकती हैं। एक अर्थ में यह (आत्म-विद्या) रहस्य-वाद है भी। कबीर का ही अनुभव देखिए :-

> भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तो झूठ।
> मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूँ न दीठ ॥ १ ॥
> दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतियाइ।
> हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरिषि हरिषि गुण गाइ ॥ २ ॥ [1]

कबीर ने राम का (परमात्मा का या हरि का) साक्षात्कार कर लिया है, तब भी वह व्यक्त नहीं कर सकता और यदि वह व्यक्त कर भी दे, तो विश्वास कौन करेगा? कबीर ने साफ कहा कि न मैं उसे भारी कह सकता हूँ, न हलका; भारी कहने में डर लगता है और हलका कहने पर झूठा प्रमाणित हो जाऊँगा। राम को मैंने आँखों से नहीं देखा, यदि देख भी लिया है तो कैसे कहूँ? और कह भी दूँ, तो कौन विश्वास करेगा? हरि तो जैसा है तैसा ही रहेगा, तू हर्षित होकर उसका गुणगान कर।

कबीर का कहना ठीक है। इस कथन से सब सहमत हो सकते हैं। जो सहमत नहीं होंगे, वे भी कबीर के प्रामाणिक अनुभव को स्वीकार करेंगे। ऐसी स्थिति में 'अध्यात्म' को व्यक्त करना तथा समझाना कठिन काम है। मैं यहाँ पर इस विषय पर लिखते समय संकोच की स्थिति में हूँ। भय है कि जो व्यक्त करना चाह रहा हूँ, वह व्यक्त न हो। इच्छा यह है कि 'अध्यात्म' को इस तरह स्पष्ट करूँ कि साधारण व्यक्ति भी समझ जाए। मैं यह मानता हूँ कि ज्ञान के अभाव में अध्यात्म का सर्वथा बोध नहीं हो सकता। जैसे आचार को मैंने 'कर्म-सौंदर्य' कहा है, उसी तरह अध्यात्म को मैं ज्ञान की सौंदर्यानुभूति कहता हूँ। ज्ञान को इस तरह अनुभव करना कि वह सुन्दर लगे तो अध्यात्म का बोध होता है।

ज्ञान

ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है। वह उजाला है—यह अनुभव की बात है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

> न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते
> तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

गीता, चतुर्थ अध्याय।

अर्थात् ज्ञान के समान इस लोक में पवित्र और कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान को काल क्रम में जिसने योग या कर्मयोग सिद्ध कर लिया है, स्वयं अपने स्थान पर प्राप्त कर लेता है।

हम ज्ञान को सरल रूप में देखें। ज्ञान का अर्थ जानना है। गीता में ज्ञान को जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह बहुत ही उच्च धरातल पर (अध्यात्म के

रूप में) है। उस धरातल को समझने के लिए हमें लौकिक रूप में ही सामान्य धरातल पर ज्ञान को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। हम इंद्रिय–संवेदनों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं। लौकिक ज्ञान यही है। विज्ञान एक अर्थ में लौकिक ज्ञान है। वह ज्ञान तो है, किन्तु अध्यात्म नहीं। विज्ञान में ज्ञान का उपयोग है और इससे जीवन में सुख–समृद्धि भी आई है किन्तु गीता में ज्ञान शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में है, विज्ञान उससे भिन्न है। इस नाते ज्ञान तथा विज्ञान के अन्तर को परखना चाहिए। यहाँ पर मैं यह फिर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि गीता में ज्ञान शब्द का प्रयोग 'अध्यात्म' के संदर्भ में है। गीता ज्ञान की कविता है...उसका ज्ञान, सुन्दर ..अति सुन्दर है। संभवतः मैं यह स्पष्ट न कर सकूँ, फिर भी प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरे कथन में कुछ भावुकता आ गई। अब मैं नियंत्रित होकर लिखूँगा। अस्तु।

विज्ञान

इधर विज्ञान ने ज्ञान की समस्त शाखाओं को प्रभावित किया हैं। भौतिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान (इन शाखाओं को विशुद्ध विज्ञान ही माना जाता है) को छोड़ दें, तब भी कलाओं तथा शास्त्रों को भी––जो ज्ञान की अन्य शाखाएँ ही हैं, उनको भी––विज्ञान ने प्रभावित किया हैं। भाषा और साहित्य पर विज्ञान हावी होता जा रहा हैं। ज्ञान की सब से उच्च शाखा दर्शन हैं। यह शाखा भी आज विज्ञान से आक्रान्त हो गई है। इधर वैज्ञानिक दर्शन के उदय का प्रयास हो रहा है। केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के श्री हेन्स राइखेन बाख ने 'वैज्ञानिक दर्शन का उदय' (The rise of Scientific philosophy) पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के आमुख में हैन्स राइखेन बाख ने लिखा है – 'अनेक लोगों के मत से दर्शन-शास्त्र को परिकल्पना (Hypothesis) से अलग नहीं किया जा सकता। उनका विश्वास है कि दार्शनिक ऐसी प्रणालियों का उपयोग नहीं कर सकता जिनसे ज्ञान की स्थापना होती है, वह ज्ञान तथ्यों का हो अथवा तार्किक सम्बन्धों का; उसे एक ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जो सत्यापन की पहुँच से बाहर हो––संक्षेप में यह कि दर्शन, विज्ञान नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य इसके विपरीत मत की स्थापना करना है। इसमें इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि दार्शनिक परिकल्पना एक अस्थाई अवस्था है, जो तब उत्पन्न होती है, जब दार्शनिक समस्याओं को ऐसे समय में उठाया जाता है, जिसमें उन्हें हल करने के लिए तार्किक साधन उपलब्ध नहीं होते। इसका दावा है कि दर्शन को समझने के लिए एक वैज्ञानिक मार्ग विद्यमान है और सदा विद्यमान रहा है और यह पुस्तक यह बताना चाहती है कि इसी आधार पर एक वैज्ञानिक

दर्शन का उद्भव हुआ है, जिनसे हमारे युग के विज्ञान में उन समस्याओं को हल करने के उपकरण प्राप्त कर लिए हैं, जो आज से पहले केवल कल्पना के विषय थे। संक्षेप में कहा जाय तो यह पुस्तक इस भावना को व्यक्त करने के उद्देश्य से लिखी गई है कि दर्शन ने परिकल्पना के क्षेत्र से निकल कर विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है।'[२]—इस पुस्तक में लेखक महोदय ने दो भाग किए हैं। प्रथम के अन्तर्गत 'परिकल्पनात्मक दर्शन के मूल' तथा दूसरे के अन्तर्गत 'वैज्ञानिक दर्शन के परिणाम' हैं। लेखक का विश्वास है कि वैज्ञानिक दर्शन की यह भूमिका है। लेखक यह भी मानता है कि इस तरह का दर्शन (वैज्ञानिक आधार को मान कर चलनेवाला) अस्तित्व में आ गया है।

हम देखते हैं कि विज्ञान इस समय में इतना आगे बढ़ गया है कि चंद्रमा तथा मंगल तक यान पहुँच गए हैं। धरती का भाग (सारा भूखण्ड) तो कदमों के नीचे है। वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं। इसे सब स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रश्न इस बात का है कि विज्ञान, ज्ञान-विशेष होने पर भी अध्यात्म क्यों नहीं है?

विज्ञान और अध्यात्म

हम विज्ञान की सामान्य विशेषताओं पर विचार करें। विज्ञान मूलतः व्यक्ति—विशेष का ज्ञान होते हुए भी वह समूह का ज्ञान है। विज्ञान में ज्ञान (तथ्य-मूलक जानकारी का) का सामान्यीकरण है। विज्ञान की प्रवृत्ति विशेष से सामान्य की ओर रही है। यह सब तो है ही किन्तु इसमें व्यक्ति की अपेक्षा संगठन का (समाज का) बल है। विज्ञान ने संगठन को तो बलवान बनाया किन्तु इससे व्यक्ति कमजोर हुआ है। विज्ञान की शक्ति समूह की शक्ति है। संगठन के सहयोग के अभाव में विज्ञान काम नहीं कर सकता। विज्ञान में प्रयोजन अधिक काम करता है और विश्वास कम। प्रयोजन की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी विश्वास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। बर्ट्रेंड रसेल ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं— 'तथ्य तो यह है कि विज्ञान का प्रारंभ सन्तायन की भाषा में अत्यधिक 'प्राणि—श्रद्धा' से हुआ था जो वास्तव में सोपाधिक प्रतिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार विचार प्रमुख है। इसी विश्वास ने भौतिक विज्ञानियों को पदार्थ-जगत् में विश्वास करने की क्षमता दी। बाद में धीरे-धीरे वे इसके प्रति विश्वासघाती हो गए, जैसे राजा-महाराजाओं के इतिहास का अध्ययन करके लोग गणतंत्रवादी बन गए। हमारे युग के भौतिक विज्ञानी अब पदार्थ पर विश्वास नहीं करते। फिर भी यदि एक

व्यापक और विविधतापूर्ण बाह्य संसार उपलब्ध हो तो अपने-आप में भौतिक विज्ञानियों का यह अविश्वास कोई अधिक हानि करनेवाला नहीं है। किन्तु दुर्भाग्य से भौतिक विज्ञानियों ने अपार्थिव बाह्य संसार में विश्वास करने का कोई कारण भी हमें नहीं बताया।'[3] रसेल इस समस्या को तर्कशास्त्रियों की समस्या समझते हैं। यह सीधी बात है कि तर्क करने से समस्या के पहलू स्पष्ट होते हैं किन्तु उसका उचित समाधान मिलने पर संतोष होता है। प्रश्न है क्या तर्क के आधार पर विश्वास प्राप्त हो सकता है? होना तो यह चाहिए कि तर्क से आरंभ कर (समाधान प्राप्त करते हुए) हम विश्वास की ओर बढ़ें। विज्ञान ने समस्या को (इतनी उन्नति और विकास के बावजूद) विश्वास का आधार प्रदान नहीं किया। रसेल ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है ... "सार रूप में यह एक सरल–सी समस्या है, अर्थात् : क्या कभी भी परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो हमें कुछ ज्ञात घटनाओं के आधार पर यह अनुमान करने की क्षमता दे सके कि कोई अन्य घटना घटित हुई है, घटित हो रही है अथवा घटित होगी? अथवा यदि हम निश्चयपूर्वक इस प्रकार का कोई अनुमान नहीं कर सकते तो क्या पर्याप्त संभाव्यता के साथ ऐसा अनुमान किया जा सकता है, या कम–से–कम ५० प्रतिशत से कुछ अधिक संभाव्यता के साथ ऐसा अनुमान किया जा सकता है? यदि इस प्रश्न का उत्तर अस्तिवाची हो तो जिन घटनाओं के घटित होने का अनुभव हमने स्वयं नहीं किया उनके घटित होने पर विश्वास करना न्याय–संगत होगा, और वास्तव में हम सभी ऐसा विश्वास करते ही हैं। किन्तु यदि नकारात्मक उत्तर हो तो फिर हमारा यह विश्वास कभी न्याय–संगत नहीं हो सकता। तर्कशास्त्रियों ने इस प्रश्न का उसके इस सरल रूप में विवेचन शायद ही कभी किया हो, और मुझे इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर ज्ञात नहीं है। जब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं उपलब्ध होता तब तक तो वह प्रश्न बना ही रहेगा और बाह्य विश्व में हमारा विश्वास एक प्राणि–श्रद्धा मात्र रहेगा।"[४] .. कहना यह है कि विज्ञान में विचार अधिक काम करते हैं और ये विचार शक्तिमूलक होते हैं तथा विचार के स्वामी को शक्ति प्रदान करते हैं किन्तु तर्कशास्त्री की समस्या वैसे ही रहती है।

इस तुलना में अध्यात्म में विश्वास अधिक काम करता है। इस विश्वास से प्रयोजन भी सिद्ध हो सकता है ... यह अतिरिक्त फल है। गीता में ही भगवान कृष्ण ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए साफ कहते हैं :–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

...... गीता, चतुर्थ अध्याय ।

अर्थात् जो इन्द्रियों को संयमित रखता है तथा श्रद्धावान् है, उसे भी ज्ञान प्राप्त होता है और जैसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, उसे तुरत शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे लोग जिनके पास ज्ञान नहीं (बुद्धि के अर्थ में) और श्रद्धा भी नहीं, वह संशयित वृत्ति वाला है। संशयात्मा तो विनष्ट होती है। न उसे इस लोक में सुख मिलता है और न ही परलोक में।

वैसे यह विषय बहस का है कि 'ज्ञान' (विचार) और 'श्रद्धा' (भावना) दोनों में किसका अधिक महत्त्व है? इस बहस में यहाँ नहीं जाना है। सरल रूप में यह कहना है कि विज्ञान का ज्ञान (जानकारी) अपने उत्तरोत्तर विकास क्रम में (अकेला आदमी इस ज्ञान को वहन नहीं कर सकता, इस नाते) अवैयक्तिक होता जाता है। इस तुलना में अध्यात्म का प्रयास व्यक्ति को ऊँचा उठाना है ... उसके अपने निज के दायरे से ऊपर उठाना ... इस तरह ऊपर उठाना कि वैयक्तिकता केवल उसमें ही सीमित न रह जाए ... वह बढ़े और बढ़ती जाए बढ़ती जाए ... । यदि एक पंक्ति में कहना चाहें, तो 'सिया-राममय सब जग जानी' कह सकते हैं—इस पंक्ति में अध्यात्म है। अध्यात्म व्यक्ति के आत्मबल को बढ़ाने में सहायक होता है।

अध्यात्म : आत्मा की कविता

अध्यात्म का ठीक अर्थ में विवेचन करें, तो वह कविता का स्वरूप ले ले। और यह कविता आत्म-सौंदर्य से युक्त होगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि में यह आत्म-सौंदर्य व्यक्त हुआ है। कबीर तथा जायसी के रहस्यवाद में इसको (आत्म-सौंदर्य को) अनुभव किया जा सकता है। इस अध्यात्म के सम्बन्ध म अलग-अलग धर्मों ने (सम्प्रदाय तथा पंथ आदि जितने भी हैं, शाखा–प्रशाखा आदि सब) अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था दी है। धर्म और अध्यात्म इन दोनों में यदि समीकरण बैठाना हो तो प्रश्न दर्शन का रह जाता है। एक धर्म, दूसरे धर्म से केवल दर्शन के कारण भिन्न है। सब धर्मों में जो समान तत्त्व है...वह अध्यात्म है। अध्यात्म सब धर्मों का मूल और सामान्य तत्त्व है।

दर्शन बदलने से, भाषा बदलने से, साधना पद्धति बदलने से नामकरण तथा आचारों में भिन्नता आ जाएगी किन्तु मूल अध्यात्म में कोई अन्तर नहीं आएगा। जैसे कहा गया है कि किसी को भी नमस्कार कीजिए वह केशव तक ही पहुँचता है—'सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति'।

मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। अध्यात्म मनुष्य का मूल भाव है। गीता में 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (आठवाँ अध्याय, श्लोक संख्या ३) कहा है। 'स्व' का अर्थ स्वयं और इस नाते 'आत्मा' ले सकते हैं। स्व का मूल भाव अर्थात् आत्मा का मूल भाव—यही अध्यात्म है। अध्यात्म में भावना होगी ही। इस भावना का अनुभव कैसे हो? यही समस्या है। इसी के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। हम ज्ञान तो चाहते हैं, किन्तु भावरहित ज्ञान नहीं चाहते। ज्ञान प्रकाश है, इस बात को स्वीकार करते हुए हम यह चाहते हैं कि इससे आत्मा का आलोक बढ़े। ज्ञान के बल से भावना का बल बढ़ें। केवल ज्ञान बढ़े और भावना को उस ज्ञान से बल न मिले तो वह ज्ञान व्यर्थ है। भावना में व्यक्ति-चेतना जीवित रहती है। हम ऐसा ज्ञान चाहते हैं जिससे हम भावना के मूल-स्वरूप (आत्मा के लक्षणों) को पहचान सकें। अध्यात्म की भाषा में इसे आत्म-ज्ञान कहेंगे।

सारी मानव जाति जिस नाते एक सूत्र में आबद्ध है, उसका कारण अध्यात्म है। आत्मा का जो मूल भाव मुझ में है, वह दूसरे में है, तीसरे में है ...और इस तरह सब में है .. मुझमें और अन्य में अलगाव नहीं है, भेदभाव नहीं है ...यदि भेदभाव है, तो वह सांसारिक है ...माया और प्रपंच का है ...रंग और आकार का है ...देश और काल का है ...इस मूल भाव को आच्छादित करनेवाले अनेक कारण हैं ...इन कारणों को पहचानना और भेदभाव को दूर कर मूल स्वरूप को जानना—ज्ञान है ...और जब ज्ञान उदित हो जाता है तो फिर अखण्ड भाव जागता है ...फिर तो भेद शरीर का रह जाता है ...बाकी सब एक सूत्र में बन्धे रहते हैं .. और यह एकसूत्रता अध्यात्म के कारण है। संभव है, यह कविता लगे (गद्यमय कविता) .. किन्तु यह सच्चाई है।

गीता में आत्मा के लक्षण वाणी की शक्ति से परे बतलाए गए हैं। कोई लक्षण बैठता ही नहीं है। आत्मा को अमर बतलाया गया है। कहा गया है :—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

— गीता, दूसरा अध्याय।

अर्थात् : सभी भूत-प्राणी (देह धारण करनेवाले प्राणी) आरंभ में अव्यक्त मध्य में व्यक्त तथा मृत्यु के उपरान्त अव्यक्त ही रहते हैं। अत: शोक कैसा ? अर्थात् आत्मा शरीर धारण करने से पूर्व रही है (अव्यक्त), शरीर धारण करने के उपरान्त रहती है (व्यक्त) और शरीर के नष्ट हो जाने पर या मृत्यु के उपरान्त भी रहेगी (अव्यक्त)। आत्मा अमर है।

विज्ञान के पास इस प्रकार का आस्थामूलक उत्तर या समाधान नहीं है। विज्ञान व्यक्त के सम्बन्ध में तो कह सकता है, किंतु अव्यक्त के प्रति उसके पास कोई उचित उत्तर नहीं है।

आत्मा के स्वरूप को समझाते हुए (उसके लक्षणों तथा अनिर्वचनीय गुणों का बोध देते हुए) कृष्ण ने अर्जुन के मोह को दूर किया। मोह अज्ञान के कारण होता है। गीता को केवल भावप्रधान (ज्ञान के अभाव में भाव) नहीं समझना चाहिए। मोह के आवरण को दूर करना तथा आत्मा के स्वरूप को समझना आत्म-ज्ञान है। देह धारण करने के बाद कर्म तो अनिवार्य है। निष्कर्मी कोई नहीं रह सकता। कर्म करते हुए (मोह से मुक्त रहकर), ज्ञान से आत्मस्वरूप की पहचान कर जो कर्म से बंधता नहीं है— ज्ञान स्वरूप रहता है (आत्मा के मूल भाव को पहचान जाता है)... उसे फिर किसी प्रकार का शोक नहीं होगा...यह तो स्थितप्रज्ञ की स्थिति है।

आत्मा की सौंदर्यानुभूति को अध्यात्म कहा गया है। इस सौंदर्य के अवलोकन के लिए आत्मा से परिचय होना चाहिए। देहमुक्त आत्मा का ज्ञान हमें हो। जिसकी आत्मा बलवान होती है, उसकी शक्ति साधारण-शक्ति नहीं होती। इसे जीवनी-शक्ति कहना चाहिए। जिसने आत्म-सौंदर्य का अनुभव किया है, उसने जीवन की शक्ति पाई है। वह मृत्यु से डरता नहीं है। मृत्यु उससे डरती है।

जीवन और मृत्यु

आत्मा का सम्बन्ध जीवन से है, मरण से नहीं। आत्मा के लक्षण में ही बतलाया गया है कि आत्मा अमर है। देह धारण करने से पूर्व आत्मा रही है और देह छोड़ने के बाद भी रहेगी। इस बात का ज्ञान जिन्हें हो गया (आत्म-ज्ञान) वे मृत्यु से डरते नहीं हैं। आत्महत्या कौन करते हैं? ... वे लोग करते हैं, जिन्होंने आत्मा के लक्षणों को नहीं जाना और जिनमें आत्मबल नहीं है। जीवन का सम्बन्ध होने से — अस्तित्व के बने रहने से — है और मृत्यु का

सम्बन्ध न होने से — अस्तित्व के मिट जाने से — है। हमें जीवन सुंदर लगता है और मृत्यु असुंदर। हम हर कीमत पर जीना चाहते हैं। सब से अधिक भय किस बात का है? उत्तर होगा—मृत्यु का। इसी तरह हम सब से अधिक आशावान् किसके प्रति होंगे, उत्तर होगा—जीवन के प्रति।

जीवन तथा मृत्यु इन दोनों में हम जीवन से परिचित हैं। मृत्यु से हमारा परिचय नहीं है। जिससे हम परिचित नहीं, उसी के लिए भय की भावना हमारे मन में है। अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास में इस समस्या को उठाया है। इस उपन्यास में मृत्यु को निकट से देखने तथा अनुभव करने का वर्णन है और यह वर्णन संवेदना के रूप में है। इसमें जीवन तथा मृत्यु दोनों की संवेदना आवरण मुक्त रूप में की गई है। एक अर्थ में यह उपन्यास मृत्यु-दर्शन से सम्बन्धित है और मृत्यु-दर्शन की ठीक पहचान हो जाए तो फिर उससे जीवन मिलता है। इस उपन्यास में सेल्मा बुढ़िया है और योके युवती। सेल्मा मृत्यु की गोद में रहकर भी अन्तिम क्षण तक जीवन के प्रति आशावान् बनी रहती है, जब कि योके युवती होते हुए भी—सामने लम्वा जीवन आशाप्रद होने पर भी—मृत्यु को निकट से देखने के कारण जीते हुए भी मृत्यु की भावना से आक्रान्त हो जाती है। अज्ञेय ने लिखा है—'जीवन छोड़ ही देना होता है कि वह बना रहे और भर-भरकर मिलता रहे; सब आश्वासन छोड़ देने होते हैं कि ध्रुवता और निश्चय मिले। और इतर सब जिया और मरा जा चुका हैं, सब की जड़ में अंधेरा और डर है; यही एक प्रत्यय है जो नये सिरे से जिया जाता है और जब जिया जाता है तब फिर मरा नहीं जाता, जो प्रकाश पर टिका है और जिसमें अकेलापन है"[५] इन पंक्तियों को विज्ञान कहें या दर्शन या अध्यात्म? क्या कहेंगे? निश्चित ही विज्ञान इस सम्बन्ध में चुप है। इन पंक्तियों में 'आत्म-ज्ञान' है और आत्म-ज्ञान होता है तो जीवन का बोध होता है।

अध्यात्म की भाषा

अध्यात्म को ठीक-ठीक व्यक्त करना कठिन काम है। अतः इसे व्यक्त करने के लिए भाषा में प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा है। अध्यात्म की भाषा प्रतीकात्मक होती है। प्रतीक मूलतः भावप्रधान होते हैं। जिनको हम सहज व्यक्त नहीं कर सकते किन्तु अनुभव तो करते हैं, उन्हें व्यक्त करने के लिए प्रतीकों की सहायता लेनी ही पड़ती है। प्रतीकों में विश्वास (मान लेने वाली बात) अधिक कार्य करता है। तर्क तथा विज्ञान का मतभेद प्रतीकों से हो

सकता है। किन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा उच्च धरातल पर पहुँचने पर प्रतीकात्मक हो जाती है। प्रतीक की संवेदना इंद्रिय–संवेदना नहीं है। शब्द–स्पर्श–रस–रूप–गंध (इंद्रिय–संवेदना) से परे प्रतीकों की संवेदना होती है। यदि प्रतीकों से इंद्रिय–संवेदना होती भी है, तो वह मान लेनेवाली (भावना प्रधान होने के कारण) स्थिति के कारण होती है।

प्रतीक का सम्बन्ध भावना से बतलाते हुए श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने लिखा है ... "हर एक मानव के हृदय में ऐसी अन्तश्चेतना वर्तमान है जो उसे अनायास इस विश्वास की ओर प्रेरित करती है कि एक ऐसी परा शक्ति है जो सृष्टि का संचालन कर रही है। स्वयं उस व्यक्ति का संचालन कर रही है। ईश्वर के प्रति आस्था तथा विश्वास बुद्धि–गम्य नहीं होता, आत्म–गम्य होता है। जन्म लेने के बाद हर बच्चे को ईश्वर में विश्वास करना सिखलाया नहीं जाता। ऐसी आस्था स्वतः पैदा हो जाती है। जुंग ने धर्म को अन्तः–प्रेरित भावना माना है। यहाँ पर धर्म का अर्थ ईश्वर में विश्वास मात्र से है। लूबा ने इसे अन्तःप्रेरित भावना नहीं माना है, अपितु उसके कथनानुसार अनुभव तथा जानकारी से आन्तरिक प्रेरणा की नींव पर, धार्मिक भावना का क्रमशः विकास होता है। दोनों ही दशाओं में अन्तरात्मा या आन्तरिक प्रेरणा ही वह मुख्य वस्तु है जिससे धर्म की भावना पैदा होती है। जिनमें यह भावना आ गई या जिन्होंने धर्म को पहचान लिया, उन्होंने दूसरों में ऐसी पहचान आसानी से पैदा करने के लिए, आन्तरिक प्रेरणा या अन्तर्ज्ञान में सहायता देने के लिए तथा दुर्बल–हृदय लोगों के मार्गदर्शन के लिए प्रतीक मूर्ति आदि की रचना की जिसे शंकराचार्य ने प्रतीकोपासना कहा है। अन्तर्ज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्त को एकाग्र करना जरुरी होता है। ऐसी एकाग्रता में सहायता देने के लिए तथा वास्तविक जानकारी कराने के लिए ऐसे धार्मिक प्रतीक बने होंगे जिनमें मूर्तियाँ सब से अधिक महत्त्व रखती हैं।"[१] तात्पर्य यह कि हमारी भावप्रवणता ने अव्यक्त को प्रतीकों में व्यक्त किया है। यह ऐसी प्रक्रिया है, जो आज भी जारी है। श्री अरविंद ने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। अरविंद ही क्यों जिस किसी ने अन्तर्दर्शन में ब्रह्म का साक्षात्कार किया, वह व्यक्त तो नहीं कर सकता ...तब एक मात्र उपाय (यदि वह व्यक्त करना चाहे) प्रतीकात्मक रूप में कहना शेष रह जाता है। शब्द कम और अनुभव अधिक ऐसी स्थिति होती है। प्रतीक तो वहाँ चिह्न-स्वरूप होते हैं। किन्तु उनके अनुभव का प्रमाण व्यापक होता है।

श्री अरविंद ने प्रतीकों को समझाते हुए तथा प्रतीकों की महत्ता ज्ञापित करते हुए लिखा है— "प्रतीक, मेंरी समझ में, एक स्तर का एक रूप है, जो दूसरे स्तर के किसी सत्य को दर्शाता है। उदाहरणार्थ, झंडा राष्ट्र का प्रतीक है। किन्तु साधारणतया, सभी रूप प्रतीक होते हैं। हमारा यह शरीर हमारी यथार्थ सत्ता का प्रतीक है, और प्रत्येक पदार्थ किसी उच्चतर सत्य का प्रतीक होता है। हाँ, प्रतीक बेशक विभिन्न प्रकार के होते हैं। (१) रूढ़ प्रतीक : वे जो वैदिक ऋषियों ने अपने आसपास के पदार्थों से गढ़े थे। गाय प्रकाश का अर्थ देती थी, क्योंकि एक ही शब्द 'गो' रश्मि और गाय—दोनों का द्योतक था और क्योंकि गाय उनकी अमूल्यतम सम्पत्ति थी, जो उनका भरण-पोषण करती थी और जिसके चुराए अथवा छिपाए जाने का सदैव भय रहता था। किन्तु इस प्रकार का प्रतीक एक बार सृष्ट हुआ नहीं कि जीवंत हो उठता है। ऋषियों ने उसमें प्राण फूंके और वह उनकी उपलब्धि का अंग बन गया। वह उनके अंतर्दर्शन में आध्यात्मिक प्रकाश की मूर्ति के रूप में प्रकट हुआ। अश्व भी उनके प्रिय प्रतीकों में था—और उससे भी अधिक सुगमता से अनेक प्रयोग हो सकते थे—क्यों कि उसके बल और शक्ति स्पष्ट थे। (२) जिन्हें हम जीवन-प्रतीक कह सकते हैं, कृत्रिमतया नहीं चुने जाते अथवा जो जानबूझकर मन द्वारा गढ़े-समझे नहीं जाते, वरन् जो दैनंदिन जीवन से अथवा उन परिस्थितियों से स्वाभाविकतया विकसित होते हैं, जो हमारे जीवन के साधारण मार्ग को प्रभावित करते हैं। प्राचीनों के लिए पर्वत योगमार्ग का प्रतीक था। स्तर के ऊपर स्तर, शिखर के ऊपर शिखर। यात्रा भी, जिसमें नदियों को पार करना होता है, पशु और मानव, दोनों प्रकार के छिपे हुए शत्रुओं का सामना करना होता है, इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते थे। आज-कल, मैं समझता हूँ, हम लोग योग की मोटर की सवारी या रेलयात्रा से समता करेंगे। (३) वे प्रतीक जिनमें अपना सहज औचित्य होता है। आकाश अथवा आकाशरूपी देश निःसीम, परिव्याप्त सनातन ब्रह्म का प्रतीक है। किसी भी जाति में वह यही अर्थ व्यक्त करेगा। इसी प्रकार सूर्य अखिल विश्व में अति-मानसिक प्रकाश का दिव्य विज्ञान का अर्थ व्यक्त करेगा।"[७] अरविन्द ने प्रतीकों को इस तरह स्पष्ट करते हुए मानसिक प्रतीकों का भी वर्णन किया है। जैसे कि पहले ही कहा गया है कि प्रतीक भावना से युक्त होते हैं तथा उनके अर्थ की व्याप्ति (अर्थ विस्तार) बढ़ती जाती है, ठीक इसी तरह प्रतीक यदि व्यक्ति के मानस में व्याप्त रहते हुए व्यक्त होकर वही अर्थ अन्य मानसों में देने लगे तो मानस का यह अर्थ (व्याप्ति रूप में) अन्य मानसों में व्याप्त हो जाने पर विराट् रूप धारण कर लेते हैं और वहाँ सब एकात्मक अनुभूति शेष

रह जाती है और व्याप्ति के कारण बलवान हो जाती है। इस से आत्मा को बल मिलता है।

प्रतीकों में भावना गहन होने के कारण वाणी का प्रयोग संकेतों में ही होता है। संकेत सूत्र में ही होते हैं। महर्षि वेदव्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र की भाषा इसी तरह की है। ये सूत्र एक दूसरे से आपस में इस तरह आबद्ध हैं कि किसी एक सूत्र की व्याख्या के लिए, उस सूत्र के पीछे की शृंखला को समझना आवश्यक हो जाता है। और फिर बात यह है कि ये ब्रह्मसूत्र है—ब्रह्म की सब विशेषताओं को समझाना है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ॥ १।१।१ ॥ से आरम्भ होता है। ब्रह्म की जिज्ञासा को दूर करने की प्रतिज्ञा प्रथम सूत्र में है। ब्रह्म को समझाते हुए या उसके लक्षणों को बतलाते हुए, कहने के बाद, यह बात मन में रह ही जाती है कि कथन पूर्ण नहीं हुआ। अतः फिर जो छूट गया (व्यक्त नहीं हो पाया) उसे कहा जाता है। सूत्र इसी तरह चलते हैं। उदाहरण के लिए नीचे तीन सूत्र दिए जा रहे हैं और फिर इनका आपस में सम्बन्ध बतलाया जा रहा है।

१. आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १।१।१२ ॥

२. विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १।१।१३ ॥

३. तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १।१।१४ ॥

किसी बात को बार बार दोहराना अभ्यास है। ब्रह्म के लिए 'आनन्द' का व्यवहार या प्रयोग श्रुतियों में बार बार हुआ है। आनन्द ब्रह्म के वाचक अर्थ में अभ्यास रूप में प्रयोग में आने के कारण ब्रह्म—'आनन्दमय' है, ऐसा समझना चाहिए। सूत्र यही कह रहा है।

ऊपरवाले सूत्र में ब्रह्म को 'आनंदमय' कहा गया। यह कहने पर भी मन में शंका रह गई कि 'आनंदमय' शब्द में जो 'मयट्' प्रत्यय है, उसमें विकार का बोध होता है। जब कि सच्चाई यह है कि ब्रह्म में कोई विकार नहीं, वह तो निर्विकार है। अतः उसे '—मय' कहना कहाँ तक संगत है? इसी प्रश्न के समाधान के लिए दूसरा सूत्र तत्काल दिया गया। इस दूसरे सूत्र से पहले सूत्र की शंका दूर होती है और सूत्र में व्यक्त प्रतीकात्मक भाव की व्याप्ति समझ में आती है। दूसरे सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा।

'मयट्' प्रत्यय लगने के कारण क्या 'आनंदमय' में विकार आ गया ? क्या आनंदमय ब्रह्म का वाचक नहीं होगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं है। समाधान यह है कि 'मयट्' प्रत्यय यहाँ विकार के रूप में नहीं, प्राचुर्य के रूप में है।

दूसरे सूत्र में प्रथम सूत्र का समाधान प्रस्तुत करने पर भी यह शंका फिर उपस्थित हो सकती है कि 'मयट्' प्रत्यय से जब विकार का बोध होता है तो उसे यहाँ पर प्रचुरता के अर्थ में ही क्यों लिया जाय ? अतः तीसरे सूत्र में इसका फिर समाधान दिया गया है। कहा है — उसे (तत् अर्थात् ब्रह्म) आनन्द का हेतु बताया गया है — इसलिए भी। विस्तृत रूप में अर्थ इस प्रकार होगा।

श्रुतियों में तथा उपनिषदों में ब्रह्म को आनंद का हेतु कहा गया है। अतः जो आनंद का हेतु है, जो सब को आनंद प्रदान करता है, वह स्वयं आनंद से भिन्न कैसे ? वह तो आनंदघन है। बिना आनंद को धारण करे, औरों को आनंद प्रदान नहीं किया जा सकता। अर्थात् आनंद अखंड रूप में, प्रचुरता में है। इस नाते 'आनंदमय' में '–मय' को विकार के अर्थ में नहीं, प्रचुरता के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। अस्तु।

ऊपर मैंने केवल तीन सूत्र लिखे हैं और इनका आपस में सम्बन्ध बतलाने का प्रयास किया है। ये सभी सूत्र आपस में इस तरह आबद्ध हैं कि एक दूसरे को समझे बिना ब्रह्म का पूर्ण बोध नहीं होता। सूत्रबद्ध शैली में अव्यक्त ब्रह्म को प्रतीकात्मक भाषा में कहा गया है। अध्यात्म की भाषा प्रतीकात्मक ही होती है।

अध्यात्म और आचार

अध्यात्म के विवेचन में यदि गहराई में जाएँ तो वाणी मौन हो जाती है और संभवतः यह प्रतीत हो कि आचार के साथ अध्यात्म की संगति कैसे ? अतः दोहराने के रूप में यह कहना चाहूँगा कि आचार का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्त रूप से है। आचार के अन्तर्गत सभी शरीर–धर्म आते हैं। शरीर आत्मा का व्यक्त रूप है। इस शरीर के साथ कर्म–विद्या जुड़ी हुई है। आचार–दर्शन से अव्यक्त की झलक व्यक्त रूप में दिखलाई देती है। मनुष्य को हम आध्यात्मिक प्राणी मानते हैं। इस नाते आचारों में अध्यात्म व्यक्त होता रहता है। और आचार हम समाज से संस्कारों के रूप में ग्रहण करते हैं। हमारे आचारों का मूल्य समाज में होता है। समाज से आचार ग्रहण करते हुए भी और उनका मूल्य समाज में होते हुए भी अपने आप में आचार अध्यात्म से इस अर्थ में

भिन्न नहीं कि आत्मा ही (शरीर में व्यक्त रूप में) आचार के रूप में विलसित होती रहती है ।

इधर ऐसी प्रवृत्ति प्रचलित है कि आचार में (आचार-संहिता में) . 'चाहिए' को अभिप्रेतात्मक मानने के कारण या निर्देशात्मक होने के कारण तथा नैतिक आधारों को स्वयंसिद्ध मान लिए जाने के कारण (वैज्ञानिकता के आधार पर) — दोषपूर्ण माना जा रहा है । 'चाहिए' की वैज्ञानिक व्याख्या हो रही है । विश्वास किया जाता है कि 'चाहिए' का समाधान दार्शनिक नहीं, वैज्ञानिक को देना चाहिए । (मेरे इस वाक्य में 'चाहिए' आ गया, क्या करूँ ? विवश हूँ) वैसे तो इस संदर्भ में हैन्स राइखेन बाख ने लिखा है— "किसी व्यक्ति को जो आचारशास्त्र का अध्ययन करना चाहता है, दार्शनिक के पास नहीं जाना चाहिए; उसे वहाँ जाना चाहिए, जहाँ नैतिक प्रश्नों का तर्क द्वारा निर्णय होता है । उसे ऐसे वर्गीय समाज में रहना चाहिए, जिसमें प्रतिस्पर्धी संकल्पों के द्वारा जीवन प्रत्यक्ष होता है । वह वर्ग किसी राजनैतिक दल, अथवा किसी श्रमिक संगठन, अथवा जीविकागत संगठन अथवा किसी क्लब, अथवा किसी विद्यालय के कक्षा में सामान्य अध्ययन द्वारा निर्मित हुआ हो । वहाँ वह यह अनुभव करेगा कि दूसरे व्यक्तियों के मुकावले में अपने संकल्पों को प्रतिष्ठित करने का क्या अर्थ है और वर्गीय इच्छा के साथ ताल-मेल बिठाने का क्या अर्थ होता है । यदि आचारशास्त्र संकल्प की पूर्ति का प्रयत्न है तो उसके साथ ही वह किसी वर्गीय वातावरण के माध्यम से संकल्पों का अनुकूल बनाना भी है । व्यक्तिवाद का प्रतिपादक तब अदूरदर्शी सिध्द होता है, जब वह उस संकल्पात्मक दोष की उपेक्षा करता है, जो किसी वर्ग में रहने से उत्पन्न होता है । हम वर्ग के माध्यम से संकल्पों के अनुकूल को उपयोगी अथवा घातक प्रक्रियाओं के रूप में मानते हैं या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करती है कि हम वर्ग का समर्थन करते हैं या उसका विरोध ; किन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा वर्गीय प्रभाव विद्यमान है ।"[८] —इस कथन से अध्यात्म का कहीं विरोध नहीं है । आचार में अध्यात्म का विरोध हो तो उस आचार का खण्डन होता ही है । सब से बड़ा उदाहरण हमारे सामने कबीर का है । कबीर ने उन सब बाह्याचारों का डंके की चोट खण्डन किया है, जिसमें उसने अध्यात्म का अभाव पाया । कबीर की निजी साधना आध्यात्मिक रही है । कबीर की कविता आध्यात्मिक कविता है ।

अध्यात्म के साथ आचार का मेल न बैठे तो विकल्पात्मक स्थिति का निर्माण होता है । इस विकल्पात्मक स्थिति से संकल्पात्मक स्थिति की ओर लौट कर

आना (जिसमें सब अलगाव और द्वंद्व समाप्त हो जाए) अध्यात्म की ओर आना है। यह आत्म-ज्ञान है।

अध्यात्म क्यों?

व्यक्ति के संकल्पात्मक रूप समाज में अन्य व्यक्तियों के संकल्पात्मक रूपों से टकराते हैं। इस टकराने में अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं—किन्तु यह भी सत्य है कि आचार ग्रहण में (सीखने में) संकल्पात्मक रूपों का ही परिष्कार, सुधार आदि होता है। इस पर भी व्यक्ति के संकल्पात्मक रूप मूलतः आध्यात्मिक होने के कारण विकल्पों से संकल्पों की ओर आने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सामाजिक विकल्पों में (अनेक संकल्पो में) व्यक्ति के संकल्प अपनी स्वतंत्र स्थिति (अस्तित्व बनाए रखने की दृष्टि से) बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रयत्न में व्यक्ति के संकल्प को जिस हद तक (आचारों के कारण जिसे वह समाज से ही सीखता है) मान्यता मिलती है, उस हद तक यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस मान्यता का कारण अध्यात्म है। अध्यात्म के बल पर ही व्यक्ति के संकल्प (समाज में अनेक रूप धारण करते हुए भी) आचार के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं।

संभवतः ऊपर जो बात कही गई, वह स्पष्ट समझ में न आए। वस्तुतः यह प्रश्न व्यक्ति और समष्टि का है। हम व्यक्ति को महत्ता देते हैं या समष्टि को? व्यक्ति का संकल्प (उसका अपना संकल्प होते हुए भी) समष्टि के संकल्प से मेल खाए तो बात बनती है। हम चाहते हैं कि समष्टि से मेल खाते हुए व्यक्ति का संकल्पात्मक रूप सुरक्षित रहे। यदि यह सुरक्षित रहता है तो व्यक्ति को आनंद की उपलब्धि हो सकती है।

व्यक्ति और समष्टि पर विचार करते हुए हम अध्यात्म तथा विज्ञान पर फिर से विचार कर सकते हैं। विज्ञान में समष्टि का बल है और इससे व्यक्ति कमजोर हुआ है। यह ठीक है कि समष्टि के निर्णय भी व्यक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं किंतु इस प्रकार के निर्णय लेते समय व्यक्ति अपने को समष्टि का अंग मानकर ही निर्णय करता है। संभवतः व्यक्ति रूप में उसका अपना निर्णय अलग हो। वैज्ञानिकों के निर्णय विषयमूलक होने के कारण अवैयक्तिक होते हैं। विषय के प्रति उनकी प्रामाणिकता का किसी से विरोध नहीं है, फिर भी उन निर्णयों में व्यक्ति नहीं होता। विज्ञान के कारण समाज का जो रूप बदलता जा रहा है, उसमें अध्यात्म की भावना (इसे नई शब्दावली में आस्था-

मूलक स्थिति) का लोप होता जा रहा है। इस स्थिति की ओर बर्ट्रेंड रसेल ने संकेत किया है और भविष्य में जिस प्रकार की स्थिति देखने का अवसर मिलने की संभावना है, उसका ज्ञान करवाया है। रसेल की पुस्तक से इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण नीचे दे रहा हूँ :–

"बच्चों के साथ पिताओं का कोई सम्बन्ध नहीं होगा। सामान्यत: पाँच माताओं को बच्चे देने के लिए एक ही पिता होगा, और यह भी बिल्कुल संभव है कि उसने अपने बच्चों की माताओं को कभी देखा भी न होगा। इस प्रकार पितृत्व की भावना का बिल्कुल लोप हो जाएगा। शायद समय आने पर यही बात माताओं के सम्वन्ध में भी होगी, यद्यपि हो सकता है कि उसकी मात्रा कुछ कम हो। यदि समय से पहले ही बच्चे का जन्म संभव हो सका और बच्चे को जन्म के समय ही माता से अलग कर दिया गया, तो मातृत्व की भावना के विकसित होने के लिए भी बहुत कम अवसर रह जाएगा। मजदूरों के बीच में शायद इतनी व्यापक सतर्कता नहीं बरती जाएगी, क्योंकि केवल शारीरिक बलशाली सन्तान पैदा करना बुद्धिमान सन्तान पैदा करने की अपेक्षा अधिक आसान है और यह असम्भव नहीं है कि इस वर्ग की औरतों को पुराने प्राकृतिक ढ़ंग से अपने बच्चों का पालन पोषण करने दिया जाय। मजदूरों में राज्य के प्रति उस अन्धनिष्ठा की आवश्यकता नहीं होगी जो शासक वर्ग के लिए आवश्यक समझी जाएगी; और इसलिए मजदूरों में व्यक्तिगत अनुरागों का होना सरकार के लिए उतनी आपत्ति की बात न होगी। यह कल्पना तो करनी ही पड़ेगी कि शासकों में किसी प्रकार के मनोभावों का होना सरकार द्वारा सन्देह की दृष्टि से देखा जाएगा। किसी भी पुरुष और स्त्री के बीच यदि परस्पर अत्यधिक प्रेम या निष्ठा की भावना दिखाई देगी तो उन्हें उसी प्रकार हेय दृष्टि से देखा जायगा जैसे आजकल नैतिकवादियों द्वारा उन स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को देखा जाता है जो परस्पर विवाहित न हों।"[९]

और भी :–

"ऐसे संसार में सुख भले ही हो, पर आनंद नहीं होगा। परिणामस्वरूप एक इस प्रकार की मानव-जाति विकसित होगी जिसमें दृढ़ यतियों के सामान्य लक्षण दिखाई देंगे। ये लोग कठोर होंगे, कभी न झुकनेवाले होंगे, अपने आदर्शों में उनकी प्रवृत्ति निर्दयता की ओर होगी और वे लोग ऐसा सोचने में तत्पर होंगे कि सार्वजनिक कल्याण के लिए यातना देना आवश्यक है। मैं तो ऐसा नहीं समझता कि पाप के दंडस्वरूप बहुत अधिक यातना दी जाएगी

क्योंकि अवज्ञा और राज्य के प्रयोजनों को पूरा करने में असफलता के अलावा और कोई पाप स्वीकार नहीं किया जाएगा।"[10]

और भी :–

"इस अमंगल-सूचक अशुभ भावी कल्पनाओं के अंधकार में आशा की एक किरण दिखाई देती है जो अंधकार को कुछ हलका कर देती है, लेकिन शायद आशा की इस किरण की स्वीकृति में हम ने एक मूर्ख आशावाद को स्वीकार कर लिया है। शायद इंजेक्शनों, औषधियों और रसायनों द्वारा लोगों को वह सब कुछ सहने के लिए तैयार कर लिया जाएगा जो कुछ जनता के वैज्ञानिक शासक लोग उसके लिए कल्याणकारी निर्धारित करेंगे। हो सकता है मदहोशी के ऐसे नए तरीके निकाले जाएँ जिनमें नशा उतरने के बाद सरदर्द न हो, और नशे के ऐसे नए तरीकों का अविष्कार किया जाए जो इतने स्वादिष्ट हो कि उन्हीं को प्राप्त करने के लिए लोग अपने होश की घड़ियों को यातना में बिताने के लिए तैयार हों। जिस संसार का शासन प्रेम-रहित ज्ञान और शक्ति के द्वारा किया जाएगा, यह सब उसी की सम्भावनाएँ है। शक्ति से मदोन्मत्त व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है और जब ऐसा व्यक्ति संसार का शासन करता है तब तक यह संसार सौंदर्य और आनंद से शून्य रहेगा।"[11]

बर्ट्रेंड रसेल ने इस तरह बहुत विस्तार से भविष्य का चित्र खींचा है। वैज्ञानिक समाज, वैज्ञानिक सरकार और वैज्ञानिक युग के मान-मूल्य आदि पर उन्होंने बहुत विस्तार से लिखा है। प्रस्तुत में यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि समष्टि के संकल्प ने व्यक्ति के संकल्प को क्षीण कर दिया है। इन संकल्पों पर समष्टि के भी संकल्पों पर—(समष्टि के निर्णय व्यक्ति ही लेने पर भी)—सत्ता का मोह है। ऐसा मोह विवेक की प्रतीक्षा में है। इसे हम चाहें तो ऐसा कह सकते हैं कि बोतल से राक्षस बाहर आगया है और अब वह राक्षस उस बोतल के मालिक पर ही सवार हो गया है। राक्षस का मालिक राक्षस पर नियंत्रण नहीं कर पा रहा है। राक्षस को बाहर आने का अवसर उसी ने प्रदान किया किन्तु अब वह ऐसा कोई उपाय नहीं जानता कि उस राक्षस को फिर बोतल में बंद कर दें। विज्ञान—ज्ञान का राक्षस है, जो अकेले व्यक्ति के बल पर कार्यान्वित नहीं हो सकता, उसमें अनेक व्यक्तियों के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है और इस सक्रिय सहयोग में जिस सामूहिक शक्ति का निर्माण होता है, उस शक्ति के सामने व्यक्ति कमजोर हो जाता है। शक्ति तो मिलती है और सुख भी मिलता है किंतु आनंद कहाँ? इस पूरी प्रक्रिया में या मशीनरी में व्यक्ति पुरजा हो जाता है, जिसे अपने स्थान पर रहकर सीमित प्रयोजनों

को उस पूरी मशीनरी के बने रहने के लिए और ठीक ढ़ंग से कार्य करने के लिए निरपेक्ष भाव से कार्य करते रहना है—यही उसका धर्म है और यही उसका आचार है। इस नए धर्म और इस नए आचार में अध्यात्म की कमी का अनुभव व्यक्ति करने लगा है। अध्यात्म आत्मा की भूख है, यदि यह तृप्त नहीं होती तो शान्ति प्राप्त नहीं होती।

इस संदर्भ में ब्रह्मसूत्र या गीता के ज्ञान को देखें तो उससे व्यक्ति के संकल्प को बल मिलता है। ज्ञान तो अग्नि है और इसमें जलकर सब कर्म भस्म हो जाते हैं। शुद्ध ज्ञान प्राप्त हो और वह भावमय हो तो आनंद की उपलब्धि हो सकती है, इसके लिए व्यक्ति-साधना ही उपयोगी हो सकती है। पिंड में ब्रह्म है, यह अनुभूति पिंड में आ जाय तो फिर आत्मा दुर्बल नहीं होगी और ज्ञान के राक्षस (विज्ञान) से घबराएगी नहीं। बूंद को सागर में मिलाकर बूंद के अस्तित्व को समाप्त करना है या बूंद में सागर के भाव को भरकर बूंद का बल बढ़ाना है यह निर्णय आज के चिंतकों को करना चाहिए।

संदर्भ

१. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुन्दरदास, जर्णा कौ अंग, पृ. १३ तथा १४।

२. वैज्ञानिक दर्शन का उदय, हैन्स राइखेन बाख, अनुवादक : अनन्त मराल शास्त्री, पृ. ७ (आमुख की आरम्भ की पंक्तियाँ)।

३. वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक, गंगारतन पाण्ड़ेय, पृ. ६४।

४. –वही–पृ. ६४–६५।

५. अपने-अपने अजनबी, अज्ञेय, (द्वितीय संस्करण, १९६६), पृ. ९५।

६. प्रतीक शास्त्र, परिपूर्णानन्द वर्मा, पृ. ३०।

७. श्री अरविन्द के पत्र, द्वितीय भाग, अनुवादक : चन्द्रदीप त्रिपाठी, पृ. ४४७–४४८।

८. वैज्ञानिक दर्शन का उदय, हैन्स राइखेन बाख, अनुवादक : अनन्त मराल शास्त्री, पृ. २८९–२९०।

९. वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : गंगारतन पांडेय, पृ. १९९।

१०. ,, ,, ,, पृ. २०१।

११. ,, ,, ,, पृ. २०२।

○ ○

आनन्द

आनन्द आत्मा का अनुभव है। यह अनुभव आध्यात्मिक है। इस अनुभव में पूर्णता है। यह अनुभव ऐसा है, जिसमें आत्मा विलसित होती है। इस अनुभव में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। इस अनुभव में आत्म–साक्षात्कार होता है और इस तरह परम का भी साक्षात्कार होता है। इस अनुभव में स्थिरता है, शान्ति है तथा सत्य का बोध है। आनन्द सौंदर्य का चरम मूल्य है।

अनुभव तथा साक्षात्कार को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है ... "अनुभव एक ऐसा शब्द है जिसमें योग में घटित होनेवाली सभी बाते समाविष्ट हो जाती हैं; केवल इतना है कि जब कोई वस्तु स्थिर हो जाती है तब वह अनुभव न रहकर सिद्धि का अंग बन जाती है; उदाहरण के लिए जब तक शान्ति का आना–जाना होता रहता है तब तक तो वह अनुभव होती है पर स्थिर होते ही वह सिद्धि बन जाती है। साक्षात्कार भिन्न वस्तु है ... जब हम किसी वस्तु की अभीप्सा करते हैं और वह हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाती हैं तो यह साक्षात्कार कहलाता है; उदाहरणार्थ हमारे अंदर एक विचार है कि भगवान् सब में विद्यमान है, परन्तु यह केवल एक विचार, एक विश्वास ही

है; पर जब हम सब के अन्दर भगवान् का अनुभव या दर्शन करने लगते हैं, तब वह साक्षात्कार बन जाता है।"[1] अनुभव तथा साक्षात्कार को जिस तरह अरविन्द ने स्पष्ट किया है, वस्तुत: उसी तरह का अनुभव और साक्षात्कार हो तो आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। आनन्द को भली-भाँति स्पष्ट करना कठिन प्रतीत हो रहा है। भाषा में यह अनुभव व्यक्त नहीं हो सकता। आनन्द के क्षण विलसित होने तथा मुग्ध रहने के क्षण होते हैं। इस अनुभव के कुछ परिप्रेक्ष्य तथा कुछ आयाम स्पष्ट करने का प्रयत्न नीचे कर रहा हूँ।

आनन्द : पूर्णता का अनुभव है

पूर्ण किसे कहें? इसे हम लौकिक अनुभव के रूप में ही स्पष्ट कर सकते हैं। हम कोई कर्म करते हैं या किसी को कर्म करते हुए देखते हैं। कर्म में संलग्न रहने में या इसी तरह किसी के कर्म के अवलोकन में कर्म के पूर्ण होने या अपूर्ण रह जाने का हमें अनुभव होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए स्पिनोजा ने लिखा है :– "जो मनुष्य कुछ करने का निश्चय करता है और उसे कर लेता है, वह उसे पूर्ण कहता है; और स्वयं वही नहीं कहता अपितु हरएक अन्य मनुष्य भी, जो उस वस्तु के निर्माता के मन को या उसके आशय को जानता है या ख्याल करता है कि जानता है।"[2] स्पिनोजा का यह कथन पूर्णता के सम्बन्ध में कहा गया सूत्र है। उदाहरण के लिए मैं यह पुस्तक लिख रहा हूँ (यह अन्तिम अध्याय लिख रहा हूँ) और जब इसे पूरी तरह लिख लूँगा, तो मैं इसे पूर्ण कहूँगा। हम मकान बनाना चाहें और उसकी योजना बनाएँ (योजना में निश्चय और पूर्णता की कल्पना की जाती है) और योजना यदि पूर्ण कार्यान्वित हो जाती है अर्थात् जो नक्शा योजना के रूप में कागज पर था, वह पूर्ण साकार दिखलाई देता है, तो हम उसे पूर्ण कहते हैं।

स्पिनोजा ने सत्ता और पूर्णता को अलग नहीं माना है।[3] और यह है भी नहीं। सत्ता का अर्थ यहाँ परम सत्ता से ही लिया गया है। वह पूर्ण है और हम भी उसका ही अंश होने के नाते पूर्णता का अनुभव कर सकते हैं।

पूर्णता सापेक्ष है

पूर्णता को सापेक्ष कहने का कारण यह है कि मनुष्य जो निश्चय करता है और उस निश्चय को कर लेता है तो वह उसे पूर्ण कहता है। इस नाते निश्चय के साथ पूर्णता जुड़ जाती है। जन्म लेने से मृत्यु तक कर्मों की एक श्रृंखला है और

इस श्रृंखला में कर्म की पूर्णता का अनुभव सदैव सापेक्ष रूप में ही किया जायगा। इस सापेक्षता का कारण निश्चय है। निश्चय में संकल्पात्मक भाव है। हम अपने संकल्पों को मूर्त देखते हैं तो सापेक्ष रूप में ही (निश्चय के अनुसार) उसे पूर्ण कहते हैं।

यहाँ पर मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आनंद के सम्बन्ध में मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वह ऋषि-महर्षि या संत तथा योगी आदि ने आनंद का अनुभव जिस स्तर पर किया है, उस स्तर पर नहीं और न ही इसे भाषा में उलझाकर और अधिक अस्पष्ट करना है। वस्तुतः 'आनंद' को मैं सौंदर्य के चरम मूल्य के रूप में मानकर कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात का प्रतिपादन करना चाह रहा हूँ कि आनंद के साथ हमारे संकल्प जुड़े हुए हैं और ये संकल्प यदि पूर्ण होते हैं तो इस पूर्णता का अनुभव आनंद के अनुभव का एक परिप्रेक्ष्य है। कर्म, यदि संकल्प के अनुसार हो तो कर्म के साथ हम जुड़ जाते हैं और कर्म में सृजन का—निर्माण का—हमें अनुभव होता है और यदि संकल्प के अनुसार कर्म पूर्ण होता है तो हमें आनंद का अनुभव होता है।

आनंद के अनेक स्तर हैं और इसका प्रवाह भी है। यह बूँद भी है और सागर भी है। हम बूँद को भी पा लेते हैं, तो जिस क्षण इस बूँद का अनुभव हो जाता है, उससे प्रवाह तथा सागर की कल्पना की जा सकती है। सत्य का साक्षात्कार सदैव नहीं होता किंतु बिल्कुल ही नहीं होता, ऐसी भी बात नहीं है। जब हम हैं और हमारी सत्ता है अर्थात् हमारा अस्तित्व है तो हमारे बने रहने में हमें जो बल या शक्ति प्राप्त है, उसके पीछे एक आध्यात्मिक शक्ति है। संभव है इस शक्ति में विश्वास न हो तब भी अपने अस्तित्व के नाते हम जिस विश्वास पर जी रहे हैं, उस विश्वास को अध्यात्म कहना चाहिए। अध्यात्म हम से बाहर नहीं है, वह सब में अंश रूप में मौजूद है। आनंद इस अध्यात्म का लक्षण है। इस आनंद को जब हम अनुभव करते हैं, तो अनुभव के क्षण पूर्णता के क्षण हैं—फिर यह पूर्णता सापेक्ष हो सकती है और इस अनुभव की मात्रा (काल रूप में) क्षणिक या मर्यादित रूप में भी हो सकती है। यह बात दूसरी है...यह तो प्रवाह है।

आनंद और सुख

क्या आनंद सुख है? नहीं। आनंद में पूर्णता का बोध है, वैसे सुख में पूर्णता का बोध नहीं है। सुख का सम्बन्ध शरीर-धर्मों से है। सुख में इन्द्रिय-बोध की

अनुकूल (जैसे हम चाहते हैं, वैसे) संवेदना है। सुख के कारण शरीर की क्रिया -शक्ति बढ़ती है, बल ग्रहण करती है तथा सहायता पाकर उन्नत होती जाती है। हम सभी सुख के अभिलाषी हैं और सुख की अभिलाषा करना गलत भी नहीं है। हम अपने सुख के आधार पर दूसरे के सुख की कल्पना करते हैं। जब सुख का अभाव होता है अर्थात् इन्द्रिय-बोध की प्रतिकूल (जैसे हम चाहते हैं, वैसे नहीं) संवेदना होती है तो उसे हम दुःख कहते हैं। सुख के साथ दुःख लगा हुआ है। सुख की सीमाएँ हैं। सुख मर्यादित होता है। सीमित या मर्यादित इस अर्थ में कि इसके साथ शरीर और तदनुसार इन्द्रिय-बोध जुड़ा है। आनन्द का अनुभव शरीर के साथ आत्मा को भी होता है। सुख को हम व्यक्त कर सकते हैं किन्तु आनन्द को व्यक्त करना अपेक्षाकृत कठिन है। आनन्द को व्यक्त करने के लिए सुख का आधार ग्रहण किया जा सकता है। सुख आनन्द को समझने का एक परिप्रेक्ष्य है।

सुख के सम्बन्ध में कहा गया है—सब से बड़ा सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर में माया (सम्पत्ति आदि), तीसरा सुख, पतिव्रता पत्नी, चौथा सुख आज्ञाकारी पुत्र...और यह क्रम चलता है। इधर सुख के क्रम बदल सकते हैं किन्तु प्रथम दो सुखों का क्रम आज भी सर्व-स्वीकृत होगा— (निरोगी काया और घर में माया)। इस सुख को सांसारिक सुख कहा जाएगा। जैसे जैसे सुख प्राप्त होता है, वैसे-वैसे सुख की लालसा बढ़ती जाती है। बिहारी का एक दोहा है :–

> बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
> घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ। [४]

सुख बढ़ते-बढ़ते बढ़ता है किन्तु घटते-घटते घटता नहीं। क्यों? यहाँ बात क्रम की की गई है। कहते भी हैं—बड़े आदमी का दुख बड़ा होता है (इसका अर्थ उसने बड़े सुख का अनुभव कर लिया है)। यह भी सच है कि सुख के साथ दुःख लगा है।

इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है—सुखी कौन? कहते हैं, एक राजा था। वैभवशाली तथा शक्ति-सम्पन्न राजा था। उसे सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। वह देश के बाद देश जीतता गया। उसकी महत्त्वाकांक्षा बलवती होती गई। एक बार ऐसा हुआ कि जिस देश को वह जीतना चाहता था, वह जीत न पाया। जीतने के मनोबल से (या इच्छा से) उसने तैयारी की। अचानक वह

बीमार हो गया । बड़े–बड़े वैद्यराज आए; उपचार हुआ, औषधियाँ दी गई, कोई लाभ नहीं हुआ । राजा चिन्तित रहने लगा । मंत्रीगण दूर–दूर तक पहुँचे और सब प्रकार के उपाय किए जाने लगे । उपचार के लिए जो कुछ कहा जाता, वह सब किया जाता ... किन्तु लाभ नहीं हुआ । अन्ततः एक वैद्यराज ऐसे पहुँचे, जिन्होंने कहा कि राजा का उपचार सरल है । उपाय यह है कि राजा को ऐसे व्यक्ति का कुरता पहनाया जाए, जो सुखी हो, राजा ने जब यह बात सुनी तो उसने सोचा मेरे राज्य में तो सब सुखी हैं; दुःखी कौन होगा ? मैं सब के सुख की व्यवस्था करता ही रहता हूँ । उसने सोचा कि मेरा प्रधान-मंत्री तो सब से अधिक सुखी होगा अतः उसी का कुरता पहना जाए । जब प्रधान–मंत्री से राजा ने पूछा कि मुझे अपना कुरता दे दो, क्योंकि तुम सुखी हो, इस पर प्रधान–मंत्री ने सादर निवेदित किया कि महाराज, मैं बड़ा दुःखी हूँ । मेंरे कुरते से आपको लाभ नहीं होगा । इस पर राजा को आश्चर्य हुआ । फिर तो क्या था, राज्य–भर में सुखी व्यक्ति की खोज के लिए आदमी दौड़ाए गए। खोज–खबर के बाद, जब सब लौटकर आते तो अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते कि महाराज, हमें कोई भी सुखी व्यक्ति नहीं मिला । ऐसे कई दिन गुजर गए । खोज जारी रही । अन्ततः राजा के सेवकों का एक दल एक दिन ऐसे जंगल में पहुँचा, जहाँ उन्होंने ठीक दोपहरी में एक पेड़ ने नीचे विश्राम करते हुए लकड़हारे को देखा । वह लकड़हारा श्रम करने के बाद विश्राम हेतु पेड़ की छाया में शान्त भाव से प्रसन्न–मुद्रा में बैठा हुआ था । उसकी उस मुद्रा को देखकर सेवकों का दल उसके पास पहुँच गया । जब लकड़हारे से पूछा गया कि क्या तुम सुखी हो तो उसने शान्त भाव से कहा कि हाँ, मैं सुखी हूँ । इस पर सेवकों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि आज कार्य सिद्ध हो गया । सेवकों ने उससे कुरता मांगा और उस से कहा कि इस प्रदेश के राजा को ऐसे कुरते की आवश्यकता है । उस लकड़हारे ने शान्त भाव से उत्तर दिया कि उसके पास देने के लिए कुरता नहीं है । वह कुरता पहनता ही नहीं ।

बीच में ही यह कथा लिख दी गई । इस कथा में हम यह देखते हैं कि सुख के साथ दुःख (अभाव) जुड़ा हुआ है । यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि दुःख के अनुभव में सुख प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है । जिसके सुख की सीमा जितनी है, उसका दुःख भी उतना ही है ।

क्या वह लकड़हारा केवल सुखी था ? समझनेवाले तो ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि वह सुखी हो सकता है । क्योंकि समझनेवाले की दृष्टि उसके पास

अभाव को — सुख की सामग्री के आभाव को — अनुभव करती है। जब कि उस लकड़हारे ने अपने सुख को किसी सामग्री में बद्ध नहीं किया। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं और वह संतुष्ट था। उसके सुख में आनन्द भी है। उसके उत्तर में ही कि मैं सुखी हूँ—आनन्द भाव है। सुख में या सुख के भाव में लिप्तता या आबद्ध होने का (सांसारिक कारणों में) भाव वर्तमान रहता है। वह अनुकूल संवेदना है, जिसे हम चाहते हैं। और यह चाह एक ऐसी प्यास है, जो निरन्तर बढ़ती ही जाती है।

आनन्द आत्मगत होता है। आनन्द में हमारी आत्मा न किसी में बद्ध होती है न किसी में लिप्त। उसमें अभाव की या किसी को पाने की अनुभूति नहीं होती। वह अखण्ड भाव होता है जिसमें आत्मा विलसित होती है।

आनन्द और शान्ति

क्या शान्ति आनन्द है? नहीं, शान्ति भी आनन्द नहीं है। जैसे सुख के आधार पर आनन्द का एक परिप्रेक्ष्य समझ में आता है, उसी तरह शान्ति भी आनन्द के अनुभव के लिए आवश्यक है किन्तु शान्ति आनन्द नहीं है।

शान्ति के सम्बन्ध में गीता में लिखा है :—

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
> तद्वतकामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥
>
> विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
> निर्ममो निरंहकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

गीता दूसरा अध्याय।

जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, उसकी भावना में निष्ठा नहीं होती, और जिसकी भावना में निष्ठा नहीं है, वह अशान्त रहता है और जो अशान्त है उसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इस शान्ति की कल्पना समुद्र से की गई है। चारों ओर से पानी आकर समुद्र में गिरता है और समुद्र भरता जाता है। वह 'आपूर्यमाण' है, इस पर भी वह अचल है (चंचल नहीं होता), मर्यादित रहता है (अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता)। ठीक उसी तरह यदि पुरुष बाह्य प्रभावों के प्रवेश (नाना प्रकार के विषय जो मनुष्य की शान्ति को भंग करते हैं उनका प्रवेश) होने पर भी आपूर्यमाण रहेगा (अपने आप में भरा

हुआ स्थिर रहेगा) अचल रहेगा (स्थिर रहेगा, चंचल नहीं होगा) तथा मर्यादित रहेगा (सीमा का अतिक्रमण नहीं करेगा), उसी को शान्ति प्राप्त हो सकती है। विषयों के प्रति आसक्ति रखनेवाले को शान्ति नहीं मिलती। सभी प्रकार की आसक्तियों को छोड़कर जो पुरुष निस्पृह भाव से रहता है—व्यवहार करता है—और जिसमें ममत्व या अहंकार नहीं है, उसी को शान्ति प्राप्त होती है।

यहाँ पर शान्ति को जिस तरह से समझाया गया है, वह ठीक अर्थ है। इस शान्ति का यह अर्थ नहीं कि कर्म से छुटकारा प्राप्त किया जाय। कर्म करते हुए बाह्य प्रभावों से मुक्त रहकर चित्त को स्थिर रखने की भावना शान्ति में व्यक्त की गई है। शान्ति का अर्थ कर्मों से छुटकारा नहीं है।

शान्ति एक प्रकार से चित्त को द्वंद्वों से मुक्त रखती है। शान्ति में संशय-वृत्ति नहीं रहती। शान्ति प्राप्त होने पर किसी भाव को स्थिरता से अनुभव किया जा सकता है। शान्ति का अर्थ भावों का समापन नहीं। शान्ति में भावों की स्थिरता है। जैसे सागर में जल भरा रहता है ठीक उसी तरह मानस में भी भाव भरे हों। भाव से आपूरित मानस शान्त रहे और भावों को अनुभव करे ... तो आनंद प्राप्त किया जा सकता है।

आनंद को शान्ति से भिन्न मानने का कारण यह है कि आनंद में 'आध्यात्मिक भावना' है, जब कि शान्ति इस भावना को प्राप्त करने की पूर्वस्थिति है। शान्ति प्राप्त करने के लिए साधना की जाती है और शान्ति प्राप्त होने पर आनंद का अनुभव किया जा सकता है।

जीवन में रुचि

जीवन अपने आप में सुखप्रद है। हम हैं, हमारा अस्तित्व है, हम अपने को बनाएँ रखें, यह हमारी बलवती इच्छा है। इसमें रुचि लेना स्वाभाविक है। यह प्राकृतिक गुण है, जो प्राणिमात्र में पाया जाता है। यह प्राकृतिक सत्य भी है। पारम्परिक नैतिकतावादी यदि जीवन के सहज सुख से वंचित करना चाहें और जीवन में रुचि लेने से रोकना चाहें—तो इसे प्राकृतिक सत्य के विपरीत ही समझना चाहिए। प्राकृतिक रूप में मृत्यु हो जाय, तो यह प्रकृति सत्य है और यह नियम अटल है किंतु जो आत्महत्या कर रहा है, वह प्रकृति के नियम का उल्लंघन कर रहा है। अर्थात् जीवन में उसकी रुचि सर्वथा समाप्त हो गई

है और वह अपने आप से भयभीत है। इस स्थिति में उसका अपनी आत्मा पर से भी विश्वास उठ गया है, यह मानना चाहिए।

आनन्द, जीवन में रुचि लेने में है। जो अपने जीवन में रुचि न ले, वह दूसरों के जीवन में रुचि नहीं ले सकता। औरों के जीवन में रुचि लेने के लिए अपने जीवन में रुचि लेना यह प्राथमिक आवश्यकता है। इसी तरह यह बात भी सत्य है कि औरों के जीवन में रुचि लेने में अपने जीवन में रुचि लेने का भाव प्रच्छन्न रूप से मौजूद रहता है।

जीवन अपने आप में कला है। यह प्राकृतिक कला का सर्वोन्नत अभिव्यक्त रूप है। यदि हम परम सत्ता में विश्वास रखते हैं और किसी को सृजनहार मानते हैं, तो जीवन प्रदान करनेवाले को कलाकार कहना चाहिए। सृजन करना कला है। ब्रह्मा को इस दृष्टि से सब से बड़ा कलाकार कहा गया है। जो जीवन का अध्ययन करते हैं, वे कला का अध्ययन करते हैं। जीवन में रुचि लेना एक अर्थ में कला में रुचि लेना है और ठीक इसी तरह कला में रुचि लेना जीवन में रुचि लेना है। यहाँ पर कला के साथ विज्ञान यदि जुड़ जाता है, तो वह इस नाते जुड़ता है कि कला के माध्याम से जो वस्तुतः प्रकृति सत्य है, विज्ञान को सामग्री मिलती है। कला ने विज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत की है। विज्ञान के लिए तथ्यों की खोज कलाओं के भीतर ही की गई है और कलाओं का शास्त्र लिख डाला गया है। जब कलाओं का विस्तृत रूप में तथ्यमूलक अध्ययन होने लगता है, तब फिर कला कला न रहकर (यथार्थोन्मुख रूप में व्यक्त होते रहने में) विज्ञान की ओर उसका झुकाव हो गया है, यह कहना चाहिए। यदि यह विज्ञान, जिसका जन्म ही कला से हुआ फिर कला पर सवार होकर अनुशासन करने लगे तो कला का आनन्द समाप्त हो जायगा। मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, वह यह है कि हम कला से विज्ञान की ओर बढ़ते हैं और हमें आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान से कला की ओर आएँ। इस सम्बन्ध में ईमाइल दुर्खीम ने लिखा है – 'विज्ञान तथा कला के बीच कोई खाई नहीं है, अपितु इस के विपरीत उनके मध्य निरंतरता टूट गई है। यह सत्य है कि विज्ञान कला के माध्यम से ही तथ्यों को प्राप्त कर सकता है किन्तु कला-मात्र विज्ञान का विस्तार है। इसके अतिरिक्त इस बात को भी स्वीकार किया जा सकता है कि विज्ञान की व्यावहारिक अपर्याप्तता उस समय अधिकाधिक कम हो जावेगी जब इसके द्वारा स्थापित नियम अधिकाधिक व्यक्तिगत यथार्थता को प्रकट करेंगे।'[५] दुर्खीम ने वस्तु-सत्य को बहुत स्पष्ट रूप में कहा है।

मृत्यु का रहस्य

यह ठीक है कि हम अपने मृत्यु के समय से परिचित नहीं। यदि विज्ञान इस सत्य का भी उद्घाटन कर दें कि अमुक-अमुक व्यक्ति की मृत्यु अमुक-अमुक समय होगी और यदि यह विदित हो जाए कि व्यक्ति-विशेष २५ वर्ष तक जीवित रहेगा या ६० वर्ष या १०० वर्ष आदि आदि, तो इस स्थिति में मौत सामने दिखलाई देगी और जीवन में रुचि कम हो जाएगी। मौत उतनी भयानक नहीं होती, जितनी उसकी प्रतीक्षा भयानक प्रतीत होती है। इस स्थिति में (भय में) हम मौत से पहले ही मर जाएँगे। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है कि मोटे आदमी को दुबला बनाने के लिए, उसे मौत का दिन बतला दिया गया। वह मोटा आदमी राजा था अतः उसने वैद्यराज से कह दिया कि यदि उस दिन उसकी मृत्यु नहीं हुई तो वह उसे फांसी दिलवाएगा। वैद्यराज ने इस बात को स्वीकार कर लिया। यह अवधि एक मास थी। परिणाम यह हुआ कि एक मास के बाद भी राजा जीवित रह गया। उसकी मृत्यु नहीं हुई। उसने तुरत वैद्यराज को बुलवाया और कहा कि अब तुम्हें फांसी दी जाएगी। वैद्यराज ने स्वीकार करते हुए कहा कि महाराज अब आप अपने शरीर को देख लीजिए। अब आप मोटे नहीं है दुबले हो गए हैं। मेरा इलाज हो गया। अब आप फांसी दे सकते हैं। कहना यह है कि मौत की अवधि ज्ञात होते ही राजा चिन्तित रहने लगा और इससे वह दुबला होता गया। यह तो कथा है किन्तु इसमें निहित सत्य यह है कि मृत्यु से हम डरते हैं। और यदि मृत्यु का निश्चित समय मालूम हो जाए तो हम मरने से पहले मरने लगते हैं। दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय पद्धतियों के नियम बतलाते समय या नियमों की पहचान तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत करते हुए इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। मृत्यु पर विचार करना एक अर्थ में जीवन पर ही विचार करना है। दुर्खीम लिखता है—'शैशव तथा वृद्धावस्था दोनों का समान प्रभाव होता है क्योंकि दोनों में मृत्यु का भय अधिक बना रहता है। किंतु क्या इसका अर्थ यह है कि दोनों अवस्थाएँ भी अस्वस्थता के प्रकार हैं? ऐसा होने पर मात्र युवावस्था ही स्वस्थ रह जाएगी तथा तब कितने विचित्र रूप में स्वास्थ्य एवं शरीरशास्त्र का क्षेत्र संकुचित हो जाएगा? और यदि वृद्धावस्था को बीमारी की अवस्था माना जाए तो फिर स्वस्थ वृद्ध पुरुषों को अस्वस्थ वृद्ध पुरुषों से किस प्रकार भिन्न किया जा सकेगा? इस प्रकार तो स्त्रियों के रजस्राव को भी अस्वस्थता की श्रेणी में मानना होगा क्योंकि वह भी स्त्रियों के लिए पर्याप्त पीड़ा तथा शारीरिक अस्वस्थता का कारण बनती है किंतु क्या इस प्रकार रोग हम उस अवस्था को कहेंगे जिसकी अनुपस्थिति अथवा समय से पूर्व मध्यस्थता एक

निश्चित रूप से व्याधिकीय प्रघटना का निर्माण करती हो? लोग यह तर्क देते है कि स्वस्थ जीवधारी वह हुआ जिसके शरीर का प्रत्येक अंग उपयुक्त काम करता हो अर्थात् प्रत्येक आन्तरिक अवस्था बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल हो तथा परिणामतः संतुलन को बनाए रख कर मृत्यु के अवसरों को समाप्त करती हो। किंतु इसके विपरीत यह सोचना ठीक होगा कि शरीर में कुछ शारीरिक कार्य अथवा व्यवस्थाएँ प्रत्यक्षतः किसी काम की नहीं होती हैं, अपितु जीवन की साधारण अवस्थाओं की परिणाम मात्र होती हैं। हम उन्हें रोग संज्ञा नहीं दे सकते हैं, क्योंकि रोग जीवधारी की संरचना के लिए अनिवार्य नहीं होता है तथा उससे बचा जा सकता है, या कि ये शारीरिक जीवधारी की शक्ति को बढ़ाने के विपरीत उसकी शक्ति को कम कर देते हैं तथा उसकी मृत्यु की आशंका को बढ़ा देते हैं।'[१] — दुर्खीम ने इस तरह समस्या को अनेक परिप्रेक्ष्यों में रखकर देखा है। इन सब परिप्रेक्ष्यों को पढ़ते समय यह प्रतीत होता है कि सामाजिक तथ्यों को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। सामान्य नियमों में यदि कोई नियम नहीं बैठता है, तो उसके कारणों की मीमांसा इन सब प्रेक्षणों में प्रस्तुत की गई है। रोग के निदान आदि की उत्तम व्यवस्था ने जीवन की अवधि बढ़ा दी है और हमने अनेक प्राकृतिक आपदाओं एवं बीमारियों से बचने का प्रयास कर लिया है। यह सब होने पर भी (इन उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए) मृत्यु अनिवार्य है और इसका निश्चित समय हमें ज्ञात नहीं है। मृत्यु का रहस्य बना रहना जीवन के लिए उपयोगी है। और जो इस सत्य को (मृत्यु की अटलता को और उसके निकट होने को भी) पहचान लेते हैं, वे यदि डरते नहीं तो अंतिम क्षण तक जीवन को जीवन के रूप में अनुभव कर सकते हैं। बहुत से डॉक्टर या वैद्यराज रोगी को देखकर पहचान लेंते हैं कि मृत्यु निकट है तथा अनिवार्य है, तब भी वे रोगी से नहीं कहते। और यह ठीक भी है। हम औरों को यदि मरते हुए देखते हैं या मृत अवस्था में देखते हैं तो निश्चित ही इससे डर लगता है। यह डर मरनेवाले के लिए नहीं, अपितु अपने लिए लगता है। इस भय से मुक्त होने के लिए आत्मबल की आवश्यता है। और यह बल अध्यात्म के परिचय से प्राप्त किया जा सकता है। जो मृत्यु से डरते नहीं है, निश्चित ही उनमें अध्यात्म का बल है, यह कहना चाहिए।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

सुख की आशा हमें कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। ठीक इसके विपरीत यदि हम दुःख से (यातनाओं से) भयभीत होते हों तो हम कर्म की ओर प्रवृत्त

नहीं होंगे। इस स्थिति में निवृत्ति (छुटकारे की भावना) की भावना हमारे मन में होगी। मैं यहाँ प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को सामान्य अर्थ में ले रहा हूँ। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक हैं। प्रवृत्ति में अधिकार-भावना प्रच्छन्न रूप से रहती है। पश्चिमी देशों में जीवन के प्रति प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण मिलता है। इस सम्बन्ध में बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है—'किसी-न-किसी रूप में अधिकार की इच्छा को उन लोगों का एक आवश्यक गुण मानना चाहिए जिनसे एक अच्छा समुदाय बन सकता है। और अधिकार की हर इच्छा—जब तक कि वह कुंठित न हो चुकी हो—प्रवृत्ति से सह-सम्बद्ध है। पाश्चात्त्य मन को यह बहुत साधारण सी बात प्रतीत हो सकती है, परन्तु पश्चिमी देशों में ऐसे लोग भी कम नहीं है जो 'पूर्व की बुद्धिमत्ता' की प्रशंसा ऐसे समय में कर रहे हैं जब कि स्वयं पूर्व उसे तिलांजलि दे रहा है। शायद उन्हें हमारी बातों से मतभेद हो और यदि ऐसा है तो हमारी बातें इस योग्य अवश्य थी कि उन्हें कहा जाय।'[७] रसेल स्वयं जीवन में प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को उपयोगी मानते हैं। इस पर भी रसेल निवृत्ति को आवश्यक समझते हैं। इस सम्बन्ध में लिखा है—'यद्यपि बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी दुर्घटनाओं को चुपचाप सहन नहीं करेगा जिनसे वह बच सकता हो, किंतु जिन दुर्घटनाओं से बचना उसके लिए सम्भव न हो उनसे बचने के लिए वह अपनी भाव-सम्पदा को नष्ट भी नहीं करेगा। यह सोचना गलत है कि किसी व्यावहारिक कार्य के प्रति हमारे मन में जितना राग होगा उसी अनुपात में उस कार्य को करने की कुशलता में वृद्धि होगी। वास्तव में रागात्मिका-वृत्ति कभी-कभी कुशलता में बाधक होती है। आपकी मनोवृत्ति यह होनी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो अपनी ओर से पूरी-पूरी कोशिश करते रहिए और मामले को भाग्य पर छोड़ दीजिए। (रसेल यहाँ पर ठीक गीता की बात ही .. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' ... कह रहे हैं।) निवृत्ति दो प्रकार की होती है—एक निराशामूलक है और दूसरी वह जिसका सम्बन्ध अजेय आशा से है। पहले प्रकार की निवृत्ति बुरी है और दूसरे प्रकार की अच्छी।"[८] हमारा जीवन वस्तुपरक हो और हम जीवन में रुचि लें। रसेल का यही कहना है। जीवन में रुचि लेने के लिए अजेय आशा की आवश्यकता है। निवृत्ति से हम कर्म-विमुख न हों, यही भावना हमें आत्मबल प्रदान कर सकती है।

स्वर्ग तथा मोक्ष

स्वर्ग सुख की सीमा है और मोक्ष शान्ति की सीमा है। स्वर्ग में किसी प्रकार का अभाव (दुःख) नहीं है और मोक्ष में किसी प्रकार का द्वंद्व (कर्मों से

छुटकारा—निर्द्वंद्व स्थिति) नहीं है। इस लोक में रहकर परलोक की चिंता करनेवाले (जो परलोक को मानते हैं) जो आकांक्षा रखते हैं या जिनकी साध (महत् इच्छा) होती है—उन्हीं के नाम स्वर्ग तथा मोक्ष हैं। ये दोनों ही शब्द ऐसे हैं, जिनके साथ हमारे अस्तित्व की निरंतरता अंतिम उपलब्धि के रूप में जुड़ी हुई है। देह से छुटकारा प्राप्त करने पर भी हमारा अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ है—वह या तो स्वर्ग का वासी हो गया है या मोक्ष को प्राप्त हो गया है। हम यही कहते हैं।

इस लोक को सुखमय मानकर अनंत सुख की कल्पना करना स्वर्ग है और ठीक इसी तरह इस लोक में दुःख ही दुःख को अनुभव करने के कारण दुःख से सदैव के लिए छुटकारा प्राप्त करना मोक्ष है। यह अर्थ जो लिखा गया है, वह सामान्य अर्थ के रूप में है। इनके पारिभाषिक अर्थ अलग-अलग धर्म या सम्प्रदाय अलग-अलग रूप में दे सकते हैं।

श्री. जयशंकरप्रसाद ने कामायनी के चिंता सर्ग में स्वर्ग का (सुख के अतिरेक का) मनोरम चित्र खींचा है। कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :–

चलते थे सुरभित अंचल से,
जीवन के मधुमय निश्वास।
कोलाहल में मुखरित होता
देव जाति का सुख–विश्वास।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छाया पथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।
सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल वैभव आनंद अपार;
उद्वेलित लहरों सा होता, उस
समृद्धि का सुख–संचार।[१]

प्रसाद ने सुख का विराट् चित्र प्रस्तुत किया है और वह स्वर्ग है। स्वर्ग के साथ साथ नरक की कल्पना भी की गई है। इसका वर्णन 'नासिकेतोपाख्यान' में विस्तृत रूप में मिलता है। सच्चाई तो यह है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों ही सुख और दुःख (यातना) के अतिरेकी या कल्पना की सीमा को छूनेवाले रूप हैं। दोनों में हमारे लौकिक अनुभवों की अभिव्यक्ति है।

मोक्ष में वस्तुतः कर्म-बन्धन से छुटकारे की भावना है। यह स्वर्ग तथा नरक से रहित (क्योंकि इन दोनों में कर्म-बन्धन है) अनुभव है। इसे स्थिरता के अनुभव की स्थिति कहना अधिक उपयुक्त होगा। मोक्ष में जो अखंड अनुभव है, वह शान्ति का है।

सगुण में निर्गुण की अनुभूति

सामान्य रूप में सगुण में निर्गुण का अनुभव आध्यात्मिक अनुभव है। राम को परब्रह्म मानने के कारण (चिदानंदमय देह तुम्हारी... मानने के कारण) राम के जीवन–प्रसंगों को या चरित्र को निर्गुण रूप में अनुभव किया जाय तो यह आध्यात्मिक अनुभव ही है। सामान्य जनता (जो राम को ईश्वर रूप में अनुभव करती है, उन्हीं के लिए सामान्य शब्द का प्रयोग किया गया है) श्रद्धा–भक्ति के कारण राम को अध्यात्म रूप में (सगुण के माध्यम से निर्गुण रूप में) अनुभव करती है। यदि यह अनुभव और विस्तृत होता जाए और राम–मात्र में ही नहीं, अपितु सर्वत्र 'सियाराममय' अनुभव होने लग जाए, तो अध्यात्म की भावना को बल मिलता है। इस अनुभव के लिए अन्तर्दर्शन, साक्षात्कार, आत्म–परिचय आदि की आवश्यकता है और इस सब की प्राप्ति के लिए साधनाएँ की जाती हैं। श्री अरविन्द एवं अनेक सत्पुरुषों ने इस प्रकार की साधना की है। अरविन्द ने अध्यात्म के जो अनुभव व्यक्त किए हैं, वे ऐसे हैं, जो सगुण में निर्गुण का बोध करवाने में सहायक हैं। कुछ पंक्तियाँ नीचे लिख रहा हूँ :–

"निर्गुण का सामान्य अनुभव यह है कि वह किसी भी रूप के बिना या देश काल में सम्बद्ध हुए बिना सर्वत्र विद्यमान है।"[१०]

"वैश्व चेतना में व्यक्तिगत 'मैं' सर्व के आत्मा में विलीन हो जाता है। वह 'मैं' जिसका ही एकमात्र अस्तित्व है वह, व्यक्ति का 'मैं' अर्थात् व्यक्ति-भावापन्न 'मैं' नहीं होता, किन्तु ऐसा विश्वभावापन्न 'मैं' है जिसका सब के साथ और वैश्व आत्मा के साथ तादात्म्य होता है।"[११]

"जो कुछ तुम अनुभव करते हो वह एक ऐसी सामान्य अवस्था है जो मुक्ति प्राप्त होने पर होती है। इन्द्रियों का कार्य इत्यादि पहले जैसा ही चलता है, किन्तु चेतना भिन्न होती है, इस कारण व्यक्ति केवल मुक्ति और पार्थक्य आदि का भाव ही नहीं अनुभव करता किन्तु यह भी करता है कि वह सामान्य मन, प्राण या इन्द्रियों के लोकों से बिलकुल भिन्न किसी अन्य जगत् में निवास कर रहा

है। तब एक दूसरी ही चेतना प्रारम्भ होती है जिसका ज्ञान और वस्तुओं को देखने का तरीका और ही होता है। आगे जाकर जब यह चेतना उपकरणों को अपने अधिकार में कर लेती है, तो इन्द्रिय और प्राण के साथ उसका सामंजस्य स्थापित हो जाता है; ये बदल भी जाते है, इनका दृष्टिबिन्दु बदल जाता है और ये संसार को पहले की तरह नहीं किंतु मानो किसी अन्य ही उपादान से और किसी अन्य आशय से बना हुआ देखते हैं।'[१२]

'शान्ति, निश्चल-नीरवता, पवित्रता और आत्मा की स्वतंत्रता में निवास करने के लिए प्रथम आवश्यक है मुक्ति। इसके साथ ही या बाद में जब मनुष्य वैश्व चेतना के प्रति जाग्रत होता है तो मुक्त होते हुए वह सब वस्तुओं के साथ एक होकर भी रह सकता है।

मुक्ति के बिना वैश्व चेतना को प्राप्त करना संभव है, किंतु तब मनुष्य की सत्ता कहीं भी निम्न प्रकृति से मुक्त नहीं होती और वह अपनी विस्तृत चेतना में स्वतंत्र या स्वामी बनने में समर्थ हुए बिना सब प्रकार की शक्तियों का क्रीडाक्षेत्र बन सकता है।

दूसरी ओर यदि आत्म-साक्षात्कार हो गया हो तो सत्ता का एक भाग ऐसा होता है जो वैश्व शक्तियों की क्रीडा के बीच रह कर भी अछूता रहता है — जब कि समग्र आन्तरिक चेतना में आत्मा की शान्ति और पवित्रता के स्थापित होने पर निम्न प्रकृति के बाह्य स्पर्श व्यक्ति के अन्दर नहीं आ सकते या उसे पराभूत नहीं कर सकते। वैश्व चेतना से पहले उसे सहारा देने वाले आत्म साक्षात्कार के हो जाने का यही लाभ है।'[१३]

श्री. अरविन्द ने इस तरह बहुत लिखा है। सगुण में निर्गुण की पहचान के लिए यह सब आवश्यक है। अरविन्द के कथनों में तथा अनुभवों में आत्मा का जीवन है। इसे जीवन की पहचान भी कह सकते हैं।

सगुण में निर्गुण की पहचान अंतर्दर्शन तथा साक्षात्कार के रूप में हो तो आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसे-जैसे यह अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे वैसे अनुभव के स्तर पर चिन्तन निर्गुण का ही होता है और सगुण तो फिर प्रतीक हो जाता है। ब्रह्म-सूत्र वस्तुतः इस आनन्द के अनुभव के उद्‌गार हैं। महर्षि वेदव्यास ने आनन्द का अनुभव किया है।

सगुण को निर्गुण रूप में अनुभव करने से लीला का व्याप्त भाव समझ में आता है । अर्थात 'ईश का आवास सर्वत्र है'—यह समझ में आता है ।

सगुण से निर्गुण की ओर बढ़ना सरल है । यदि सगुण की ओर से निर्गुण की ओर बढ़ने में विलम्ब लगे तब भी सगुण अपने आप में आनन्ददायी है । और यदि सगुण के माध्यम से निर्गुण का बोध हो जाए तो यह ज्ञान है। यहाँ ज्ञान का अर्थ गीता में ज्ञान का जो अर्थ लिया गया है (आध्यात्मिक ज्ञान) उससे सम्बन्धित ज्ञान समझना चाहिए । उदाहरण के लिए रामचरितमानस हम वैसे ही पढ़ें तो राम का चरित्र (सगुण रूप) वैसे ही आनन्द प्रदान करनेवाला है किन्तु यदि राम में निर्गुण का बोध हो जाए तो यह ज्ञान हो गया है, ऐसा समझना चाहिए । मानस में ही कहा है :—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुमहि तुम्हइ होइ जाई ।[१४]

यह ज्ञान है । और यह ज्ञान सगुण के माध्यम से निर्गुण को जानना है ।

निर्गुण में सगुण की अनूभूति

जिनकी भावना रहस्यवादी है या जो निर्गुण मत के माननेवाले हैं; इसी तरह जो परब्रह्म को या परम सत्ता को व्यक्त करना चाहते हैं, उन सब को अभि-व्यक्ति के लिए सगुण का सहारा लेना पड़ा है । लौकिक सम्बन्धों को आधार बनाकर ही उस परम सत्ता के साथ सम्बन्ध भावना व्यक्त की गई है । लौकिक सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्ति एक अर्थ में सगुण रूप में अभिव्यक्ति ही हुई । कबीर ने राम को अपना पति माना और स्वयं अपने को बहू रूप में स्वीकार किया । इस तरह से सम्बन्ध जोड़कर भावना व्यक्त करना निर्गुण को सगुण रूप ही देना है । सगुण के अभाव में निर्गुण अभिव्यक्त हो ही नहीं सकता । हाँ, इस स्थिति में यह बात स्वीकार की जा सकतीं है कि निर्गुण का अभिव्यक्त रूप (सगुण रूप में) प्रतीकात्मक होता है । यह अभिव्यक्ति सांकेतिक होती है । इस अभिव्यक्ति में लौकिक सम्बन्धों को प्रतीकात्मक रूप दिया जाता है ।

श्री. शंकराचार्य प्रणीत सौंदर्यलहरी निर्गुण अनुभव को सगुण रूप में (प्रतीकात्मक रूप में) प्रस्तुत करती है । सौंदर्यलहरी का प्रथम श्लोक इस प्रकार है :—

शिवःशक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि ।
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥ १ ॥ [१५]

स्वर्गीय हणमंत बालाजी भिड़े ने इस श्लोक के चौदह अर्थ लिखे हैं ! [१६] इतने विस्तार में यहाँ नहीं जाना है । सामान्य रूप में अर्थ यह होगा । श्री शिव यदि शक्ति से युक्त होते हैं अर्थात् शक्ति का उनमें योग रहता है (या सहित होते हैं) तो अपना प्रभाव दिखलाने में समर्थ होते हैं; और यदि ऐसा नहीं होता है, तब तो वह सामान्य हलचल करने में (स्पन्दन करने योग्य स्थिति में) भी असमर्थ सिद्ध होते हैं । अतः हे शक्तिस्वरूपिणि देवी, श्रीविष्णु, शंकर तथा ब्रह्मा आदि द्वारा पूज्य (आराधना किए जानेवाले) माने जानेवाले, तुझे, नमस्कार करने के लिए या स्तवन करने के लिए मनुष्य (जिसके पास पुण्य का कोई बल नहीं है, ऐसा मनुष्य) कैसे समर्थ हो सकता है ?

सौंदर्यलहरी में स्तोत्र (स्तवन प्रस्तुत करनेवाले) हैं । इन स्तोत्रों में निर्गुण का सौंदर्य व्यक्त हुआ है । इस अभिव्यक्ति में निर्गुण से सगुण रूप धारण करने के कारण दिए गए हैं — सृष्टि के निर्माण के कारण आदि — और फिर इस सृजन में सौंदर्य के उमड़ते प्रवाह का वर्णन प्रतीकात्मक ढ़ंग से किया गया है । यह निर्गुण का आनन्द है और यह आनन्द सौंदर्य के रूप में अभिव्यक्त है । सौंदर्यलहरी में सौंदर्य का उमड़ता प्रवाह है, जो आनन्द से युक्त है । कुछ विद्वान् सौंदर्यलहरी को आनन्दलहरी भी कहते हैं ।

जैसे कि आचार्य मानते हैं कि शिव यदि शक्ति में युक्त होते हैं, तभी वे जगत् की उत्पत्ति में समर्थ होते हैं । और यदि शक्ति से युक्त नहीं होते तो सामान्य हलचल में भी असमर्थ रहते हैं । मूल बात यह है निर्गुण ब्रह्म (परम शिव) अनिवर्चनीय है । निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप धारण करना शिव का शक्ति से युक्त होना है ।

लीला और आनन्द

जीवन अपने आप में कला है (दोहरा रहा हूँ) किन्तु इस जीवन को जीवन के रूप में अनुभव करना (ठीक कला के अर्थ में अनुभव करना) लीला है और जब हम जीवन को लीला रूप में अनुभव करने लगते हैं, तो आनन्द की

उपलब्धि होती है । आनन्द जीवन से बाहर नहीं है । हमारे यहाँ जिन अवतारों की कल्पना की गई है, उसमें यह लीला–रूप प्रधान है । राम हो या कृष्ण इन दोनों के (और भी अवतार हैं) जीवन को लीला–रूप समझना चाहिए । लीला साकार चरित्र–रूप में होती है और इसमें भक्तों का मनरंजन होता है ।

लीला को सामान्य अर्थ में खेल (ठीक पर्याय नहीं है, फिर भी) कह सकते हैं। खेल में कल्पना तथा स्वप्न दोनों मिले जुले रहते हैं । खेल के कारण जीवन में अभिरुचि पैदा होती है । बच्चों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है । इस नाते बच्चे जीवन में अधिक रुचि लेते हैं । यह रुचि मानसिक शक्ति को (शारीरिक शक्ति के साथ-साथ) भी बढ़ाने में सहायक होती है । खेलों में आवेग को सब से अधिक अभिव्यक्ति मिलती है । शक्ति प्रदर्शन की भावना भी खेलों में प्रच्छन्न रूप से मौजूद रहती है और सब से बड़ी बात खेल स्वप्न तथा कल्पना को साकार रूप देने में सहायक होते हैं । खेल के साथ वास्तविकता को जोड़ना खेल के प्रति अन्याय करना है । हम रामचरितमानस पढ़ रहे हैं । राम का चरित्र पढ़ते समय यदि कोई बार-बार बीच में यह स्मरण दिलाए कि यह असत्य है, कल्पना है...आदि आदि तो हमें निश्चित ही ऐसे व्यक्ति पर क्रोध आएगा, क्योंकि इससे हमारी कल्पना शक्ति बाधित होती है । ठीक इसी तरह बच्चे जब खेल में मग्न हों और हम उन्हें वास्तविकता का स्मरण दिलाएँ तो उन्हें क्रोध आएगा । खेल का आनन्द, खेल को (जो जीवन का ही एक रूप है) सत्य मानने में है । खेल के सत्य के साथ वास्तविकता नहीं, जोड़नी जाहिए । यदि ऐसा किया जाता है, तो खेल का आनन्द समाप्त हो जाता है । ठीक इसी तरह जीवन को (जीवन–मात्र को) खेल के रूप में लें तो जीवन को लीला रूप में अनुभव किया जा सकता है ।

खेल और लीला में जो अन्तर है, वह व्याप्ति में है । खेल का अर्थ उतना व्याप्त नहीं है, जितना लीला का है । लीला के अन्तर्गत जीवन के सभी कर्म आ जाते हैं, जिन्हें खेल-सदृश माना जा रहा है । खेल में आध्यात्मिक भावना नहीं है; जब कि लीला में आध्यात्मिक भावना है । जीवन के सहज–कर्मों को खेल-सदृश मानते हुए उसमें अध्यात्म का बोध होना लीला का अनुभव होना है ।

हम राम तथा कृष्ण के जीवन प्रसंगों को लीला रूप में अनुभव करते हैं। इस अनुभव को लीला रूप में मानने का कारण यह है कि राम वस्तुतः परब्रह्म हैं, जिन्होंने मनुष्य का रूप भक्तों के हित के लिए और उनकी रक्षा के लिए–धर्म

की रक्षा के लिए——धारण किया है। इस तरह से जो लोग राम में विश्वास करते हैं या रखते हैं; वे राम के जीवन प्रसंगों को लीला रूप में अनुभव करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के मानस में इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं। एक उदाहरण नीचे दे रहा हूँ :—

> चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ।
> नर तनु धरेहु संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।
> राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।
> तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा । जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ।
> पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ ।
> जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ ।। १२७ ।। [१७]

यह वाल्मीकि तथा राम के मिलन का प्रसंग है। राम ने वाल्मीकि से पूछा था कि मुझे इस बन में रहने के लिए उपयुक्त स्थान बतलाइए। वाल्मीकि क्या उत्तर देते ? वाल्मीकि राम के जीवन को——साक्षात परब्रह्म को——लीला रूप में अनुभव करते हैं। वाल्मीकि के अनुभव को लीला का अनुभव कह सकते है। इस अनुभव में वाल्मीकि का आनन्द व्यक्त हुआ है। लीला का अनुभव ऐसा है, जिसमें सगुण की ओर से निर्गुण की ओर जाना तथा निर्गुण की ओर से सगुण की ओर आना है। लीला सदैव सगुण रूप में ही होती है। इस सगुण में निर्गुण का अनुभव करना और निर्गुण में सगुण का अनुभव करना दोनों ही लीला रूप हैं। सगुण के अभाव में लीला का अनुभव नहीं किया जा सकता।

सौंदर्यलहरी

सौंदर्यलहरी के सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया है। इस रचना में श्री शंकराचार्य ने निर्गुण के सौंदर्य का प्रतीकात्मक ढंग से प्रवाह रूप में वर्णन किया है। यह वर्णन आनन्द से युक्त है। ज्ञान यदि भावगम्य हो और आवेग में फूट पड़े, तो आनन्द का प्रवाह उड़ता है। सौंदर्यलहरी इसी प्रकार की रचना है। इस रचना में निर्गुण की सगुण लीला है।

सौंदर्यलहरी के पूर्वार्द्ध में भगवती के तात्त्विक स्वरूप का और उत्तरार्द्ध में सगुण स्वरूप का वर्णन है। उपासक लोग इन स्तोत्रों का चिन्तन करते हैं। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों का चिन्तन किया जाता है। सौंदर्यलहरी के दो श्लोक इस प्रकार हैं :—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया ।
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया ।
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ।। ४२ ।।[१८]

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते ।
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा ।
चिरं जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान् ।। १०० ।।[१९]

ऊपर दिए गए प्रथम श्लोक में शिव तथा शक्ति दोनों को अखिल विश्व की जनक जननी रूप में स्मरण किया गया है । सीधा भावार्थ यह है । हे माता, तेरे मूलाधार चक्र में लास्यनृत्य करने के लिए उद्युक्त रहने वाले समया नामक शक्ति के साथ नवरसों से आपूरित ताण्डवनृत्य करनेवाले एवं आनन्दभैरव रूप उत्कृष्ट नट स्वरूप शिव की मैं उपासना करता हूँ । इन दोनों ने (शिव तथा शक्ति ने) सृष्टि उत्पन्न करने की दयादृष्टि प्रदान की है और इस कारण यह जगत् जनक जननी युक्त हो गया है और अब वह सनाथ है ।

दूसरे श्लोक का भावार्थ : हे, भगवती, तेरी उपासना करनेवाला भक्त सरस्वती तथा लक्ष्मी के साथ विहार करता है और इससे ब्रह्मा तथा विष्णु उससे मत्सर भाव रखते हैं । इसी तरह अपने शरीर की उत्कृष्ट कान्ति से वह कामदेव की पत्नी रति के पातिव्रत्य को भी शिथिल करता है । उसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है और वह जन्म–मरण के सांसारिक बन्धनों के कारण–स्वरूप अविद्यारूपी अंधकार का नाश करके जीवन–मुक्त स्थिति को प्राप्त करता है । उसे ब्रह्मानन्द का अनुभव मिलता है ।

दोनों ही श्लोकों का सामान्य अर्थ ऊपर दिया गया है । वस्तुतः इन श्लोकों में प्रयुक्त शब्द प्रतीकात्मक हैं और इनके पारिभाषिक अर्थ हैं । इनमें ज्ञान है । इस ज्ञान को भाव रूप में (अध्यात्म में) प्रवाह तथा तरंग में श्लोकों में व्यक्त किया गया है । यह ज्ञान का आनन्द है ।

शिव तथा शक्ति को आदिकारण माना गया है । जगत् के सृजन में उनका ही हाथ है । यह निर्गुण की ओर से सगुण रूप की ओर आना है । इस सृजन में लीला है । यह रचना है—कला है और इसमें जीवन से आपूरित भाव हैं ।

सौंदर्यलहरी की तरह कामायनी के आनन्द सर्ग में भी यही आनन्द व्यक्त हुआ है। सौंदर्यलहरी तथा कामायनी में आनन्द का जो विवेचन है, वह ज्ञान से भाव की ओर आने की स्थिति का वर्णन है।

आनन्द

आनन्द के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया, वह पूरी तरह व्यक्त हुआ है, ऐसा तो नहीं कह सकता। किन्तु इस अनुभव के कुछ परिप्रेक्ष्य एवं आयामों का विवेचन ऊपर किया गया है। भाव-जगत् से हम ज्ञान-जगत् की ओर बढ़ते हैं। इस ज्ञान-जगत् से फिर भाव-जगत् की ओर आने का प्रश्न हमारे सामने है। शंकराचार्य परम ज्ञानी थे किन्तु उनके ज्ञान ने फिर भाव-जगत् में अभिव्यक्ति पाई। सौंदर्यलहरी इसका प्रमाण है। मनु श्रद्धा से इड़ा की ओर बढ़ते हैं किन्तु फिर श्रद्धा की ओर आए। एक बार बौद्धिक-जगत् में प्रवेश पाने के बाद फिर भावजगत् में आने की आवश्यकता बनी रहती है और जब तक ज्ञान (विज्ञान आदि सब प्रकार का) आस्था में या भाव में नहीं बदल जाता तब तक आनन्द का अनुभव कैसे हो? ज्ञान प्रकाश है, ज्योति है, प्रवाह है, तरंग है, उससे हमारा हृदय जगमगाए, दीप्त रहे, प्रवहमान रहे, आलोकित रहे और हम भावों से सदा आपूरित रहें—यही आनन्द है।

संदर्भ

१. श्री अरविन्द के पत्र, द्वितीय भाग, अनुवादक : चन्द्रदीप त्रिपाठी, पृ. ३७५।

२. स्पिनोजा, नीति, अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. १६९।

३. स्पिनोजा, नीति, अनुवादक : ड़ॉ. दीवानचन्द्र, पृ. ५६।

४. बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या : ३३१।

५. समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम, ईमइल दुर्खीम, अनुवादक : हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. ३९।

६. समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम, ईमाइल दुर्खीम, अनुवादक : हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. ४०।

७. सुख की साधना, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : ख्वाजा बदीउज्जमा, पृ. २०३।

८. — वही — पृ. २०४।

९. कामायनी, जयशंकरप्रसाद, चिंता सर्ग से।

१०. श्री. अरविन्द के पत्र, द्वितीय भाग, अनुवादक : चन्द्रदीप त्रिपाठी, पृ. ५६२।

११. — वही — पृ. ५६२।

१२. — वही — पृ. ५६३।

१३. — वही — पृ. ५६३।

१४. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २–१२७।

१५. सौंदर्यलहरी, स्वर्गीय प्रा. ह. बा. भिड़े, पृ. १।

१६. — वही — पृ. १ से ९।

१७. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड ५–८/१२७।

१८. सौन्दर्यलहरी, स्वर्गीय प्रा. ह. बा. भिड़े, पृ. ९३।

१९. — वही — पृ. १५७।

○ ○

यह पुस्तक क्यों?

पुस्तक का नाम 'संवेदना और सौंदर्य' रखा गया है। इस पुस्तक की योजना बहुत दिनों से मन में थी किन्तु लिखना अब सम्भव हुआ है। यह पुस्तक मैंने आस्था के साथ लिखी है और जैसे-जैसे मैंने अनुभव किया है, ठीक वैसे-वैसे ही सहज रूप में लिखने का प्रयत्न किया है। लिखने के प्रवाह में मैंने बहुत से स्थानों पर प्रथम पुरुष का प्रयोग भी किया है। इसमें मेंरा आशय अभिव्यक्ति को सीधा रूप देना रहा है। विषय कुछ ऐसा है कि यदि भाषा में प्रत्यक्ष का माध्यम (प्रथम पुरुष का माध्यम) न अपनाता, तो मुझे लगता कि मैं जो कुछ कहने जा रहा था, वह छूट जाता। इसके लिए विद्वान् पाठकों से यह निवेदन करना चाहूँगा कि पुस्तक के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण रखें और यदा-कदा लिखने में आई पुनरावृत्ति को मार्जनीय दोष मानें। वैसे यह पुस्तक विद्वानों के लिए नहीं लिखी गई है। सामान्य रूप में सौंदर्य का बोध हमें होता है, तो वह किस प्रकार होता है और जीवन में हमारी अभिरुचि सौंदर्य में रहती है, तो वह किस तरह रहती है; इसी तरह सौंदर्य पर विचार करते समय हमारा ध्यान विशेष रूप से किन बातों की ओर आकृष्ट होता है; हम सौंदर्य का अनुभव करने पर भी यदि व्यक्त नहीं कर पाते तो इसके क्या कारण

हो सकते हैं...ये और इस तरह के कुछ प्रश्नों का समाधान मैंने पुस्तक में देने का प्रयास किया है। संभव है, इन सब प्रश्नों का उचित समाधान पाठकों को इस पुस्तक में न मिले किन्तु इन प्रश्नों की ओर ध्यान गया है, यह मैं अनुभव करता हूँ।

पुस्तक को मैंने दो भागों में विभाजित किया है। संवेदना और सौंदर्य। संवेदना के अन्तर्गत पाँच अध्याय हैं—शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गंध। इसी तरह सौंदर्य के अन्तर्गत पाँच अध्याय हैं—रंग, आकार, आचार, अध्यात्म और आनन्द।

मुझे लगता है, सौंदर्य के अनुभव के लिए, हम संवेदनशील हों। संवेदना के अभाव में सौंदर्य की ओर बढ़ा नहीं जा सकता। हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ हमें संवेदनशील बनाती हैं। हमने ज्ञान इन्हीं से अर्जित किया है। ज्ञान प्राप्त करने की यह प्रक्रिया हमारी भाव सम्पदा को बलवान बनाएँ, यह हम चाहते हैं। मैंने प्रत्येक अध्याय में (चाहे वह शब्द हो या स्पर्श हो या और कोई) तत् तत् संवेदना का आधुनिक संदर्भ में विचार करने का प्रयास किया है। आधुनिक इस अर्थ में कि तत् तत् संवेदना आज हमें किस तरह आलोड़ित करती है। संवेदना के माध्यम से यदि हम सौंदर्य की ओर बढ़ना चाहें तो उसमें बाधाएँ आती हैं...तो वे किस प्रकार की हैं आदि प्रश्नों पर भी विचार किया है। प्रकृति के साथ यदि हमारा सीधा सम्पर्क बना रहता है तो हममें जो संवेदना जाग्रत होगी, वह भी सीधी होगी। और यदि आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों के संदर्भ में हम इन संवेदनाओं पर विचार करें तो निश्चित ही हमें यह अनुभव होगा कि हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध छूट गया है। सभ्यता ने हमारी संवेदन-क्षमता को नया परिप्रेक्ष्य दिया है। इस परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है। यह सब विवेचन तत् तत् अध्यायों में है।

हमारे अपने प्रत्यय बोध जैसे होते हैं, वे प्रत्यय ही (जिन्हें हम संवेदनाओं के माध्यम से प्राप्त करते हैं।) हम को जगत् की ओर आकृष्ट करते हैं। इन प्रत्यय बोधों के आधार पर ही जीवन और जगत् के प्रति हमारी रुचि जागती है। और इनके कारण ही हम अपने में तथा औरों में रुचि लेना सीखते हैं। संवेदना के अभाव में ज्ञान नहीं और ज्ञान की भावना के अभाव में सौंदर्य का अनुभव कैसे हो? खण्ड खण्ड रूप में पाँच अध्याय लिखे होने पर भी इन सब में तारतम्य व्यावहारिक जीवन में बना रहता हे। इन सब के आधार पर ही हम सौंदर्य की ओर बढ़ सकते हैं।

सौंदर्य से सम्बन्धित पाँचो अध्यायों में मैंने जो क्रम रखा है, वह क्रम स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का क्रम लगे किन्तु मुझे नहीं लगता कि यह नितान्त ऐसा है। रंग की संवेदना सूक्ष्म हो सकती है। (सौंदर्य के अन्तर्गत प्रथम अध्याय होने पर भी) हो सकती है— ऐसा भी क्यों कहूँ ? वह है। इन अंतिम पंक्तियों को लिखते समय किसी उद्धरण को देने की आवश्यकता नहीं किन्तु रंग की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में (अध्याय में मैं लिख नहीं पाया) यहाँ कहना चाहूँगा कि रंगों की सूक्ष्मता मनुष्य के मानस पर बड़ा गहरा प्रभाव डालती है और आनन्द की उपलब्धि में (सौंदर्य बोध में कहिए) बल प्रदान करती है। रंगों के सूक्ष्म प्रभाव के सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने लिखा है— "रंग और प्रकाश हमेशा एक दूसरे के आसपास रहते हैं — रंग अधिक सांकेतिक होता है और प्रकाश अधिक गतिशील। रंग उत्तप्त होकर प्रकाश बन जाता है। रंगों के ठीक-ठीक आध्यात्मिक अर्थ का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसका ठीक-ठीक वर्णन करना सर्वदा आसान नहीं होता, क्यों कि यह विषय उतना सुनिश्चित और नियमबद्ध नहीं है, बल्कि थोडा जटिल है, रंग के स्थान, मिश्रण, गुण और आभा के अनुसार तथा शक्तियों की क्रीड़ा के अनुसार अर्थ बदल जाता है।" (श्री अरविन्द के पत्र, द्वितीय भाग, पृ. ४५२–४५३.).—कहना यह है कि रंग में हम सौंदर्य का अनुभव करते हैं, वह स्थूल होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से सूक्ष्म होता हैं। रंग तथा आकार दोनों ही सौंदर्य बोध के प्राथमिक प्रतिमानों में आते हैं और इन की ओर हमारी दृष्टि पहले जाती है। इसी-लिए इन्हें पहले रखा गया है। इस तुलना में आचार के साथ धर्म और सभ्यता जुड़ी हुई है। आचार में मनुष्य का अपना संस्कार है, जिसमें मानवीय रूपों को अभिव्यक्ति का आधार दिया गया है। इन सब में सौंदर्य को पहचानने के क्या मापदण्ड हैं और धर्म तथा सभ्यता ने हमारे सौंदर्य बोध को किस रूप में प्रभावित किया है, यह सब आचार अध्याय के अन्तर्गत लिखा गया है। अन्तिम दोनों अध्याय, अध्यात्म तथा आनन्द से सम्बन्धित हैं। इनके साथ हमारी अटूट आस्था और उपलब्धि जुड़ी हुई है। अध्यात्म के साथ आस्था है, तो आनन्द के साथ उपलब्धि है। आनन्द सौंदर्य का चरम मूल्य है।

पुस्तक में मैंने अनेक विद्वानों के उद्धरण दिए हैं। इन उद्धरणों को देते समय मैंने किसी समस्या या किसी प्रश्न को उलझाने का प्रयत्न नहीं किया है। विवादास्पद प्रसंगों से मैंने बचने का प्रयास किया है। चार परिभाषाएँ लिखना और फिर उन पर चर्चा करना तथा निष्कर्ष लिखना ... यह सब मैंने नहीं किया है। विद्वानों के विचारों को उद्धृत करते समय भी मेंरा ध्यान विषय

के सामान्य बोध की ओर रहा है। जैसे, अध्यात्म और आनन्द अध्याय लिखते समय दर्शन में उलझा जा सकता था। मैंने अपने को दर्शन शास्त्र में उलझने से बचाया है और मुझे सहज सुलभ रूप में जो अनुभव हुआ है, उसी को लिखा है। मैंने लिखने में तर्क का रूप कम और आस्था का रूप अधिक अपनाया है।

सौंदर्य पर विचार करते समय मैंने शास्त्र की ओर ध्यान नहीं दिया अपितु सीधे जीवन की ओर ध्यान दिया है। संस्कृत साहित्य में जीवन के प्रति अटूट आस्था का मुझे अनुभव हुआ है। मुझे लगता है कि संस्कृत साहित्य को यदि उसे पारम्परिक रूप में न लें और ठीक उसको तद्वत् (उचित परिप्रेक्ष्य में) अध्ययन का आधार बनाएँ तो जीवन में आस्था का निर्माण हो सकता है। मैं स्वयं इस बात में विश्वास करता हूँ कि आस्था के बिना सौंदर्य का अनुभव नहीं हो सकता। आस्था आधुनिक शब्द है; जब कि अध्यात्म भी ठीक वही अर्थ देते हुए, उसमें व्याप्ति अधिक है। अध्यात्म में आस्था का भाव हमारे चिरन्तन अस्तित्व में जुड़ा है। आस्था में भी अस्तित्व की भावना है किन्तु उसकी सीमा लौकिक रूप में ही है। अध्यात्म में धर्म की गंध आ सकती है, जब कि आस्था में आधुनिकता की गंध है। शब्दों से कोई झगड़ा नहीं है। मूल बात यह है कि सौंदर्य के अनुभव के लिअे अध्यात्म का बल न मिले (हमारे चिरन्तन अस्तित्व का सियाराममय रूप) तो कम–से–कम आस्था का (इस लोक के अस्तित्व का) बल तो प्राप्त हो।

एक बात और। आज का युग वैज्ञानिक है। सभ्यता का यह बढ़ता चरण है। हम इतने आगे आ गए हैं कि लौट नहीं सकते। किन्तु जहाँ पहुँचे हैं, वहाँ पर नए रूपों को धारण करते हुए (सभ्यता को स्वीकार करते हुए) सृष्टि के सृजन का (चाहे वह वैज्ञानिक सृष्टि हो) आनन्द लेना सीखें। इसके लिए विज्ञान के साथ कला को जोड़ने की आवश्यकता बढ़ गई है। यह पुस्तक मैंने इस प्रयास में लिखी है कि विज्ञान को फिर कला की ओर मोड़ने का प्रयास हो।

○ ○

नामानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

○ ○